THE BOOK WAS DRENCHED

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका १८ वाँ ग्रन्थ।

बङ्किम-निबन्धावली।

बंग-साहित्य-सम्राट् स्वर्गीय बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जीके साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक और मनोरंजक निबन्धोंका हिन्दी अनुवाद।



अनुवादकर्त्ता—

पंडित रूपनारायण पाण्डेय।

प्रकाशक,

हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।

भाद्र, १९८५

सितम्बर, १९२८

तृतीय वर्द्धित संस्करण।] [मूल्य एक रुपया।

सजिल्दका मूल्य डेढ़ रुपया।

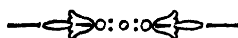
प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी, प्रोप्रायटर,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव-बम्बई।

मुद्रक—
मंगेश नारायण कुलकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
३१८ ए, ठाकुरद्वार, बम्बई २.

विषयानुक्रमणिका ।



बंकिम-निबन्धावली।



धर्म्म और साहित्य।

मैं 'प्रचार' (मासिकपत्र) का एक लेखक हूँ। यह जानकर 'प्रचार' के एक पाठकने मुझसे कहा—प्रचारमें इतने अधिक धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध अच्छे नहीं लगते। जबतक दो-एक बातें हम लोगोंके कामकी न हों तबतक जी नहीं लग सकता।

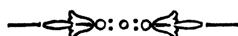
मैंने कहा—क्यों, उपन्यासमें भी क्या तुम्हारा जी नहीं लगता ? उसकी तो प्रत्येक संख्यामें एक उपन्यास प्रकाशित होता है।

उन्होंने कहा—केवल वही एक न ?

प्रचारके २४ पृष्ठ होते हैं। आठ पेजके लगभग उपन्यास होता है। वह भी पाठकोंके मनोविनोदके लिए काफी नहीं! आठ-नौ पेजोंके बाद दो-एक पृष्ठ कविता भी निकल जाती है। एक कोनेमें एक दो धर्मसम्बन्धी लेख भी पड़े रहते हैं। तथापि इस पाठकके लिए उतनी धर्मचर्चा भी रुचि-कर नहीं है। शायद कुछ और पाठक भी ऐसे निकलेंगे, जिन्हें धर्मचर्चा कड़वी लगती है। इस प्रबन्धका उद्देश्य केवल इसी प्रश्नपर विचार करना है कि धर्मचर्चा क्यों कड़वी लगती है, और उपन्यास आमोद-प्रमोद क्यों अधिक रुचते हैं ?

हमारी इच्छा यह है कि पाठकगण आप ही जरा सोचकर इन प्रश्नोंका उत्तर ठीक करें। स्वयं अपनी बुद्धिसे काम लेकर निश्चय करनेमें उनका जितना उपकार होगा, उतना उपकार किसीकी शिक्षासे नहीं हो सकता। इस विचारके काममें हम उन्हें सहायता अवश्य देंगे।

बंकिम-निबन्धावली।



धर्म्म और साहित्य।

मैं 'प्रचार' (मासिकपत्र) का एक लेखक हूँ। यह जानकर 'प्रचार' के एक पाठकने मुझसे कहा—प्रचारमें इतने अधिक धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध अच्छे नहीं लगते। जबतक दो-एक बातें हम लोगोंके कामकी न हों तबतक जी नहीं लग सकता।

मैंने कहा—क्यों, उपन्यासमें भी क्या तुम्हारा जी नहीं लगता? उसकी तो प्रत्येक संख्यामें एक उपन्यास प्रकाशित होता है।

उन्होंने कहा—केवल वही एक न?

प्रचारके २४ पृष्ठ होते हैं। आठ पेजके लगभग उपन्यास होता है। वह भी पाठकोंके मनोविनोदके लिए काफी नहीं! आठ-नौ पेजोंके बाद दो-एक पृष्ठ कविता भी निकल जाती है। एक कोनेमें एक दो धर्मसम्बन्धी लेख भी पड़े रहते हैं। तथापि इस पाठकके लिए उतनी धर्मचर्चा भी रुचि-कर नहीं है। शायद कुछ और पाठक भी ऐसे निकलेंगे, जिन्हें धर्मचर्चा कड़वी लगती है। इस प्रबन्धका उद्देश्य केवल इसी प्रश्नपर विचार करना है कि धर्मचर्चा क्यों कड़वी लगती है, और उपन्यास आमोद-प्रमोद क्यों अधिक रुचते हैं?

हमारी इच्छा यह है कि पाठकगण आप ही जरा सोचकर इन प्रश्नोंका उत्तर ठीक करें। स्वयं अपनी बुद्धिसे काम लेकर निश्चय करनेमें उनका जितना उपकार होगा, उतना उपकार किसीकी शिक्षासे नहीं हो सकता। इस विचारके काममें हम उन्हें सहायता अवश्य देंगे।

यह अवश्य है कि साधारण धर्मशिक्षकोंके द्वारा पृथ्वीपर जिस रूपमें धर्मकी स्थापना हुई है वह प्रीतिकर नहीं है। इस देशके आधुनिक धर्माचार्य जिस हिन्दू धर्मकी व्याख्या और रक्षा करते हैं उसकी मूर्ति भयानक है। आजकलके अध्यापक और पुरोहित महाशयोंकी समझमें व्रत, प्रायश्चित्त, पृथ्वीके सब सुखोंके प्रति वैराग्य, और अपनेको पीड़ित करना ही धर्म है। गर्मियोंमें बहुत ही गर्मी और प्यासके मारे अगर थोड़ासा बर्फका पानी मैंने पी लिया, तो मेरा धर्म नष्ट हो गया! ज्वर चढ़ा हुआ है, मैं पलँगपर पड़ा हुआ हूँ, कष्टके मारे दम निकला जा रहा है, डाक्टरने मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिए अगर ओषधिके साथ चार पाँच बूँद ब्राण्डी दे दी, तो बस मेरा धर्म नष्ट हो गया! आठ नव वर्षकी लड़की विधवा हो गई है; जिस ब्रह्मचर्यके बारेमें वह कुछ नहीं जानती और जिस ब्रह्मचर्यका पालन साठ वर्षकी बुढ़ियाके लिए भी कठिन है, उसी ब्रह्मचर्यके द्वारा पीड़ा पहुँचाकर उस बालिकाको रुलाये बिना धर्मकी रक्षा नहीं हो सकती! धर्मोपार्जन करना हो तो पुरोहितका घर भरो, गुरुको दो, बेकार, स्वार्थपर, लोभी, कुकर्मी, भिक्षुक ब्राह्मणोंको दो। महाकष्टसे कमाया हुआ अपना धन कुपात्रों और अपात्रोंको दे डालो। यह मूर्ति धर्मकी मूर्ति नहीं है—यह एक उत्कट पैशाचिक कल्पना है। तथापि लड़कपनसे हम इसीका नाम धर्म सुनते आते हैं। पाठकोंका इससे पिशाच या राक्षसकी तरह डरना कुछ असंगत नहीं है।

जो लोग शिक्षित हैं, अर्थात् जिन्होंने अँगरेजी पढ़ी है, वे इसे तो धर्म नहीं मानते, किन्तु वे और एक आफतमें फँस गये हैं। उन्होंने अँगरेजीके साथ ईसाई धर्मको भी सीख लिया है। उस शिक्षाके लिए बाइबल नहीं पढ़नी पड़ती। विलायती साहित्य ही उस धर्मसे सराबोर है। हम लोग ईसाई धर्मको ग्रहण करें या न करें, धर्मका नाम सुनते ही उसी धर्मको समझते हैं। किन्तु उसकी और भी भयंकर मूर्ति है। परमेश्वरका नाम लेते ही उसी ईसाइयोंके परमेश्वरका स्मरण हो आता है। परन्तु वह ईसाइयोंका परमेश्वर इस पवित्र नामके सर्वथा अयोग्य है। इसमें सन्देह नहीं कि वह विश्व-संसारका राजा है, लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं कि कोई नर-पिशाच भी वैसा प्रजापीडक, अत्याचारी और विचारशून्य नहीं हो

सकता। वह क्षणिक और अत्यन्त क्षुद्र अपराधके लिए मनुष्यको चिर-स्थायी दण्ड देता है। छोटे बड़े सभी पापोंके लिए अनन्त नरककी व्यवस्था करता है। निष्पाप पुरुष भी, अगर वह ईसाई न हो तो उसके लिए अनन्त नरक-भोगका विधान है। जिसने कभी ईसाका नाम नहीं सुना, इसी कारण ईसाई होना जिसके लिए असम्भव है, उसे भी उसी अपराधके लिए अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। जो हिन्दूके घर पैदा हुआ है उसका हिन्दूके घर पैदा होनेमें कुछ भी दोष नहीं है। ईश्वरने उसे जहाँ भेजा वहीं वह आया। इसमें अगर कुछ दोष है तो वह ईश्वरका है। तथापि उस दोषके लिए उस गरीबको अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। जो ईसाके पहले पैदा हुआ था और इसी कारण ईसाईधर्मको नहीं ग्रहण कर सका, उसे भी ईश्वरकृत जन्म-दोषके लिए अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। इस ईसाइयोंके अत्याचारी परमेश्वरका एक काम यही है कि वह दिन-रात सब लोगोंके हृदयमें झाँक झाँक कर देखा करता है कि किसने कब क्या पाप-संकल्प किया। जिसमें जरा भी पाप-संकल्प देख पाया, उसके लिए उसी दम अनन्त नरककी व्यवस्था कर दी। जो लोग इस धर्मके चक्करमें पड़े हैं, वे सदा उसी भारी विषादके भयसे सटपटाये रहते हैं और जीवन्मृत अव-स्थामें अपना जीवन बिताते हैं। पृथिवीका कोई भी सुख उनके लिए सुख नहीं है। ऐसी दशामें जिन लोगोंने इस धर्मको धर्म कहना सीखा है, उन्हें धर्मके नामसे बुखार चढ़ आना सर्वथा संगत है।

साधारण धर्म-प्रचारकोंके इन दोषोंसे ही धर्मकी आलोचनासे सर्व साधा-रण लोग इतने विमुख देख पड़ते हैं—वे उस ओर अपनी ऐसी अरुचि दिखाते हैं। नहीं तो धर्मकी मूर्ति ऐसी मनोहर है कि सब छोड़कर धर्मकी आलोचनामें ही लोगोंको अधिक अनुराग होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जगतमें लोग धर्मको मनोहर और प्रिय ही समझते हैं। केवल यहाँके ही रुचिविकार-ग्रस्त पाठकोंमें यह बात नहीं पाई जाती। वे अगर विचार करके देखें तो उन्हें देख पड़ेगा कि हिन्दू और ईसाइयोंके दोषसे जो धर्मकी विकृत मूर्ति उन्होंने देखी है वह धर्म नहीं, अधर्म है। धर्मकी मूर्ति बहुत ही मनोहर है। ईश्वर प्रजाको पीड़ा नहीं पहुँचाता। वह

प्रजापालक है। अपने आत्माको पीड़ा पहुँचाना धर्म नहीं है। अपनी उन्नति करना, अपने आनन्दको बढ़ाना ही धर्म है। ईश्वरकी भक्ति, मनुष्यके प्रति प्रीति और हृदयमें शान्ति ही धर्म है। भक्ति, प्रीति और शान्ति—इन तीन शब्दोंसे जो मोहिनी मूर्ति बनती है जगतमें उससे बढ़कर मनोहर और क्या हो सकता है? उसे छोड़कर और किस विषयकी आलोचना करनेको जी चाहेगा?

जो लोग नाटक-उपन्यास पढ़ना बहुत पसन्द करते हैं, उन्हें एक बार अपने मनमें विचार करके देखना चाहिए कि वे किस आकांक्षासे नाटक-उपन्यास पढ़ते हैं। यदि वे नाटक-उपन्यासोंकी विचित्र विस्मयजनक घटनाओंसे मनोविनोद करनेके लिए उन्हें पढ़ते हैं, तो मैं उनसे पूछता हूँ कि विश्वेश्वरकी इस विश्वसृष्टिकी अपेक्षा अधिक विस्मयजनक घटना किस भाषाके साहित्यमें वर्णन की गई है? एक तृण या एक मक्खीके परमें जितना विचित्र कौशल है उतना कौशल किस उपन्यास-लेखककी रचनामें पाया जाता है? और इस श्रेणीके पाठकोंकी अपेक्षा और ऊँचे दर्जेके जो पाठक हैं—जो कविकी कल्पना-सृष्टिके लोभसे साहित्यके प्रति अनुरक्त हैं, उनसे मैं पूछता हूँ कि ईश्वरकी सृष्टिकी अपेक्षा किस कविकी सृष्टि सुन्दर है? वास्तवमें यदि देखा जाय तो उस ईश्वरकी सृष्टिका अनुकरण होनेके कारण ही कविकी सृष्टि सुन्दर जान पड़ती है। नकल कभी असलकी बराबरी नहीं कर सकती। धर्मकी मोहिनी मूर्तिके आगे साहित्यका प्रभाव हीन पड़ जाता है।

पाठक कहेंगे कि "यह बात सत्य नहीं हो सकती। क्योंकि हमें उपन्यास-नाटक पढ़नेकी इच्छा होती है और पढ़कर हम आनन्द भी पाते हैं। धार्मिक प्रबन्ध पढ़नेकी इच्छा नहीं होती और आनन्द भी नहीं मिलता।" इसका उत्तर बहुत ही सहज है। तुमको साहित्य पढ़नेका अनुराग है और तुमको उसमें आनन्द भी मिलता है, सो इसका कारण यह है कि जिन वृत्तियोंका अनुशीलन करनेसे साहित्यका मर्म ग्रहण किया जाता है, तुम सदास उन वृत्तियोंका अनुशीलन करते आते हो, इसी कारण उससे तुमको आनन्द मिलता है। जिन वृत्तियोंके अनुशीलनसे धर्मका मर्म ग्रहण

किया जाता है, तुमने उनका अनुशीलन नहीं किया। यही कारण है कि उनकी आलोचनामें तुमको आनन्द नहीं मिलता। लेकिन इस समय उनकी आलोचनाकी बड़ी जरूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकी आलोचनामें सुख है, किन्तु जो सुख तुम्हारा उद्देश्य और प्राप्य होना उचित है उसका वह (साहित्यका सुख) एक क्षुद्र अंशमात्र है। साहित्य भी धर्मको छोड़कर नहीं है। क्योंकि साहित्यकी जड़ सत्य है और जो सत्य है वही धर्म है। यदि कोई ऐसा कुत्सित साहित्य हो जिसकी जड़ असत्य और अधर्म हो, तो उसे पढ़नेमें दुरात्मा और विकृतरुचि पाठकोंके सिवा और किसीको सुख नहीं मिल सकता। किन्तु साहित्यका सत्य और धर्म भी पूर्ण नहीं है; वह पूर्ण धर्मका एक अंशमात्र है। अतएव केवल साहित्य नहीं, किन्तु वह महान् तत्त्व धर्म, जिसका अंश साहित्यमें है, आलोचनाके योग्य है। साहित्यको मत छोड़ो, साहित्यकी सीढ़ीपर पैर रखकर धर्मके मञ्चपर चढ़ो।

लेकिन यह भी स्मरण रहना चाहिए कि आरंभमें कुछ दुःख या कष्ट उठाये बिना कोई भी सुख नहीं प्राप्त होता। विलासी और पापी लोग जिस इन्द्रियतृप्तिको ही सुख समझते हैं उसकी भी सामग्री यत्न और कष्टसे प्राप्त होती है। धर्मालोचनाका जो असीम और अनिर्वचनीय आनन्द है, उसके उपभोगके लिए प्रयोजनीय जो धर्ममन्दिरकी निचली सीढ़ीमें कठिन कर्कश पत्थर सदृश तत्त्व हैं उन्हें पहले अपने वशमें करो। अतएव आरंभमें धर्मविषयक लेख रूखे और कठिन जान पड़नेपर भी उनके प्रति अनादर करना उचित नहीं।



गौरदास बाबाकी झोली।

(१)

रामदास बाबूकी भीख।

मैं बाबाजीका चेला और भीखकी झोलीका वर्तमान अधिकारी हूँ। बाबाजीका वैकुण्ठवास हो चुका है। उन्होंने भीखमें अनेक रत्न प्राप्त किये थे। मेरे सिवा और कोई उनका उत्तराधिकारी न होनेके कारण मुझे ही वे उन रत्नोंको दे गये हैं। मैं भी उन्हें खैरात करना चाहता हूँ। नमूना देखिए।

एकदिन मैं बाबाजीके साथ रामदास बाबूके घर भीख माँगने गया। हम दोनों गुरू–चेले 'राधेगोविन्द' कह कर दरवाजे पर खड़े हो गये। रामदास बाबूने व्यंग्य करके कहा—बाबाजी, हरिहरि भजो।

मैं अपने मनमें सोच रहा था कि इन बाबूको हरिनाम क्यों इतना प्यारा है! किन्तु इधर हरिप्रेममें गद्गद बाबाजी एकतारा बजाकर गाने लगे—

हरि भजत न क्यों नर मूढ़।
जन-तारन-कारन करुनामय माया काया गूढ़।

बाबूने दिल्लगी करके बाबाजीसे पूछा—तुम्हारे हरि कहाँ हैं बाबाजी? मैंने चाहा प्रह्लादकी तरह उत्तर दे दूँ कि 'इसी खंभेमें' और मन-ही-मन कहा कि प्रभु खंभेसे निकलकर इस दूसरे हिरण्यकशिपुका पेट फाड़ डालें और मैं नरसिंहके हाथसे नर-वानरका विनाश देखकर अपनी आँखें ठंडी करूँ। लेकिन मैं तो प्रह्लाद न था, इस लिए चुप रह गया। बाबाजीने नम्रभावसे उत्तर दिया—बाबा, मैं क्या जानूँ कि हरि कहाँ हैं? अगर जानता तो तुम्हारे पास क्यों आता? उन्हींके पास न जाता?

बाबू—तो भी क्या कहीं कोई जगह उनके रहनेकी नहीं है? हरिके क्या कोई लोक नहीं है?

बाबा—है क्यों नहीं? वे वैकुण्ठमें रहते हैं।

बाबू—वैकुण्ठ यहाँसे कितनी दूर है बाबाजी?

बाबा—तुमसे हमसे बहुत दूर है।

बाबू—तो फिर पास किसके है ?

बाबा—जिसके कुण्ठा नहीं है।

बाबू—कुण्ठा क्या ?

बाबा—समझा, कालेजके साहबोंने तुमसे मुफ्त ही रुपये ठग लिये। अगर वे ही रुपये मुझे दे देते तो अधिक उपकार होता, मैं हरिनाम सिखा देता। अब कोश खोलकर देखो।

बाबू—घरमें कोश नहीं है, एक आदमी माँग ले गया है।

बाबा—यह स्वीकार करनेमें तुम इतने कुंठित क्यों होते हो कि कोश तुम्हारे यहाँ था ही नहीं।

बाबू—ओह–वह कुण्ठा ! कुण्ठा—कुण्ठित ! जहाँ कोई कुण्ठित नहीं होता वही वैकुण्ठ है ? ❀ क्या ऐसी जगह भी कहीं है ?

बाबा—बाहर नहीं है, भीतर है।

बाबू—भीतर ? किसके भीतर ?

बाबा—मनके भीतर। जब तुम्हारा मन जगतमें किसीतरह कुण्ठित न होगा—जब चित्त शुद्ध होगा, इन्द्रियाँ वशमें होंगी, ईश्वरमें भक्ति, मनुष्योंके प्रति प्रीति और हृदयमें शान्ति उपस्थित होगी, जब सर्वत्र वैराग्य और सर्वत्र सुखका अनुभव होगा, तब तुम पृथ्वीमें रहो या न रहो, संसारमें रहो या न रहो, समझना कि वैकुण्ठमें पहुँच गये।

बाबू—तो वैकुण्ठ कोई शहर नहीं, केवल मनकी अवस्थामात्र है और विष्णु वहीं रहते हैं ?

बाबा—हाँ, कुण्ठारहित निर्विकार चित्तमें ही वे रहते हैं। विरक्तका हृदय उनके रहनेका स्थान है, इसीसे वे वैकुण्ठ हैं।

बाबू—किन्तु यह क्या ! वे तो शरीरधारी हैं। शरीरधारीके लिए रहनेको कोई घरबार होना चाहिए।

❀ मालूम नहीं, व्याकरणमें बाबाकी कितनी गति थी। वैकुण्ठ भी विष्णुका एक नाम है। पण्डितलोग वैकुण्ठ शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं–विविधा कुण्ठा माया यस्य स वैकुण्ठः। लेकिन बाबाजीका अर्थ भी शास्त्रसम्मत है।

बाबा—अच्छा, बताओ उनका शरीर कैसा है।

बाबू—तुम लोग ही उनको चतुर्भुज कहते हो।

बाबा—ठीक है, उनको चतुर्भुज कहते हैं। उनकी चारों भुजाओंमें क्या क्या चीजें हैं।

बाबू—शंख, चक्र, गदा और पद्म।

बाबा—एक एक करके समझो। पहले पद्मको लो। किन्तु उसके पहले यह देखो कि ईश्वर करते क्या हैं?

बाबू—क्या करते हैं?

बाबा—सृष्टि, स्थिति, प्रलय। सृष्टिके सम्बन्धमें दो मत हैं। एक मत यह है कि आदिमें जगतका कुछ उपादान भी न था। ईश्वरने पहले उपादान (पञ्चतत्त्व) उत्पन्न करके फिर उससे सृष्टिरचना की है। और एक मत यह है कि जगतके उपादान नित्य हैं। ईश्वर हरएक कल्पमें उनसे सृष्टिरचना करते हैं। इस दूसरे प्रकारकी सृष्टिकी शक्ति जगतके केन्द्रमें है। सुना है कि साहबलोगोंका भी शायद इसी तरहका एक मत है ※। सृष्टिका मूलस्वरूप यह जगत्-केन्द्र ही हिन्दुओंके शास्त्रोंमें नारायणकी नाभिका कमल कहा गया है, अतएव विष्णुके हाथका पद्म सृष्टिक्रियाकी प्रतिमा है।

बाबू—अच्छा, और तीनों चीजें?

बाबा—गदा प्रलयक्रियाकी प्रतिमा है। शंख और चक्र दोनों स्थितिक्रियाकी प्रतिमा है। जगतकी स्थिति स्थान और कालमें है। स्थान है आकाश। आकाश शब्दवाही और शब्दमय है। इसीसे शब्दमय शंख आकाशकी प्रतिमाके रूपसे विष्णुके हाथमें स्थापित किया गया है।

बाबू—और चक्र?

बाबा—यह काल-चक्र है। कल्प, युग, मन्वन्तर आदिके फेरसे काल घूमा करता है। इसी कारण कालको चक्ररूपसे ईश्वरके हाथमें स्थान मिला है। जगदीश्वर अपनी चार भुजाओंमें आकाश, काल, शक्ति और सृष्टिको धारण किये हुए हैं। अब समझे कि विष्णुके शरीर नहीं है। विष्णु वैकु-

※ La Placiau hypothesis.

ण्ठके ईश्वर हैं, इसका तात्पर्य यह है कि कुण्ठाशून्य निर्भय विरक्त पुरुष हरघड़ी हृदयमें स्रष्टा-पाता-हर्त्ता रूपसे ईश्वरका ध्यान करते हैं।

बाबू—तो फिर बस इतना कह देना ही काफी था। इस बातको तो सभी स्वीकार करते हैं। यह रूपक रचनेकी क्या जरूरत थी?

बाबा—यह भी तो सब स्वीकार करते हैं कि कलकत्ता अँगरेजोंकी राजधानी है, तो फिर किलेपर अँगरेजी झंडा खड़ा करनेकी क्या जरूरत है? पृथ्वीपर सभी कामोंमें इस तरहकी कल्पना देखी जाती है। फिर मुझ ऐसे मूर्खके भक्तिके मार्गमें यों काँटे रूँधनेकी चेष्टा क्यों करते हो भैया?

बाबू—अच्छा यदि सचमुच विष्णुके शरीर नहीं है, तो फिर श्याम वर्ण किसका है? जिसके शरीर ही नहीं उसके रंग कैसा?

बाबा—आकाशका भी तो श्यामवर्ण देखा जाता है, किन्तु क्या आकाशके शरीर है? अच्छा तुम्हारा अँगरेजी शास्त्र क्या कहता है? जगत् अन्धकारमय है या प्रकाशमय?

बाबू—जगत् अन्धकारमय है।

बाबा—इसीसे विश्वरूप विष्णुका रंग श्याम है।

बाबू—किन्तु जगतमें सूर्योदय भी तो होता है—प्रकाश भी तो है।

बाबा—विष्णुके हृदयमें कौस्तुभमणि है। कौस्तुभ—सूर्य है, और वनमाला—ग्रह नक्षत्र आदि।

बाबू—अच्छा तो क्या यह जगत् ही विष्णु है?

बाबा—नहीं, जो जगतमें सर्वत्र व्याप्त हैं वे ही विष्णु हैं। जगत् शरीर है और वे आत्मा हैं।

बाबू—अच्छा, अशरीरी परमेश्वरके दो स्त्रियाँ क्यों हैं?—लक्ष्मी, और सरस्वती।

बाबा—कोश खरीदकर देखो। लक्ष्मीका अर्थ है शोभा या सौन्दर्य। रमा आदि लक्ष्मीके और और नामोंका भी यही अर्थ है। सरस्वतीका अर्थ है ज्ञान। विष्णु सत् हैं, सरस्वती चित् हैं और लक्ष्मी आनन्द हैं। इसीसे अरे मूर्ख! सच्चिदानन्द परब्रह्मको प्रणाम कर।

बाप रे बाप ! बाबूको उनके ही घरमें 'अरे मूर्ख !' कह दिया ! बाबूने उसी समय दरबानको हुक्म दिया—' मार बदजातको ! '

बाबाजीकी झोली पकड़कर मैं उन्हें बाहर घसीट लाया । बाहर आकर मैंने बाबाजीसे कहा—बाबाजी, आज भिक्षामें क्या पाया ?

बाबाजीने कहा—बदपूर्वक जन धातुके आगे क्ति प्रत्यय लानेसे जो रूप बनता है वही पाया । इसे भीखकी झोलीमें डाल रक्खो ।

—श्रीहरिदास वैरागी ।

---

(२)

अष्टमीकी भीख ।

आश्विन शुक्ल अष्टमीकी दुर्गापूजाके दिन बाबाजी नहीं देख पड़े । यह संभव है कि वे किसी दुर्गामन्दिरमें हरिभजन कर रहे हों । यह भी असम्भव नहीं है कि उस अमूल्य अमृतमय नामके बदले पेड़ा बरफी आदि मिट्टीके ढेले ले लेकर वैष्णवोंकी उदारता और महिमाका प्रमाण दे रहे हों । मुट्ठीभर आटेके बदलेमें जो हरिनाम सुनाता है, उससे बढ़कर दाता और कौन होग ? मन-ही-मन इन्हीं सब बातोंकी विशेष-रूपसे आलोचना करता हुआ मैं पूज्यपाद गौरदासबाबाका पता लगाने निकला । जिन सब घरोंमें दुर्गापूजाकी धूम थी, और दरवाजोंपर झुंडके झुंड भिक्षुक खड़े थे उन सभी घरोंमें ढूँढ़ा, पर वह सफेद दाढ़ीका झंडा फहराते कहीं न देख पड़ा । ढूँढ़ते ढूँढ़ते एक घरमें जाकर देखा, बाबाजी भोजन करने बैठे हैं ।

देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई । वैष्णव होकर शक्तिका प्रसाद भोजन करना मुझे अच्छा न लगा । पास जाकर मैंने बाबाजीसे कहा—स्वामी, जान पड़ता है कि भूखसे धर्मकी उदारता भी बढ़ जाती है ?

बाबाजीने कहा—तब तो फिर चोरका धर्म बड़ा ही उदार मानना पड़ेगा । भैया, ऐसी बातें क्यों कर रहे हो ?

मैं—वैष्णवको क्या शक्तिका प्रसाद खाना चाहिए ?

बाबाजी—दोष क्या है ?

मैं—हम लोग विष्णुके उपासक हैं । शक्तिका प्रसाद क्यों खायँ ?

बाबाजी—तुम यह जानते हो कि शक्ति क्या है ?

मैं—देवताकी शक्ति देवताकी स्त्रीको कहते हैं । जैसे नारायणकी शक्ति लक्ष्मी, शिवकी शक्ति दुर्गा, ब्रह्माकी शक्ति ब्रह्माणी, इसी तरह ।

बाबाजी—दूर हो पापी ! उठ जा ! तेरा मुँह देखकर भोजन करनेसे पाप लगता है । देवता क्या तेरी तरह वैष्णवी रखकर घर-गिरिस्ती करते हैं ? दूर हो ।

मैं—तो फिर शक्ति क्या है ?

बाबाजी—अच्छा, यह जलका कलसा उठा ।

मैंने पानीका कलसा उठा लिया ।

बाबाजीने एक जलकी बूँद गिराकर कहा—इसे तो उठा ।

मैं—यह भी कहीं हो सकता है ?

बाबाजी—तुममें पानीका घड़ा उठानेकी शक्ति है, पर बूँद उठानेकी शक्ति नहीं है । रोटी खा सकते हो ?

मैं—क्यों नहीं खा सकता ? रोज ही खाता हूँ ।

बाबाजी—अच्छा, इस जलती हुई लकड़ीको खा सकते हो ?

मैं—जलती लकड़ी भी कहीं खाई जा सकती है ?

बाबाजी—तुममें रोटी खानेकी शक्ति है, पर जलती लकड़ी खानेकी शक्ति नहीं है । अब समझे कि देवताकी शक्ति क्या है ?

मैं—नहीं ।

बाबाजी—देवता अपनी क्षमताके द्वारा अपने करनेके कामको पूरा करते हैं । उसी क्षमताका नाम शक्ति है । अग्निमें जलानेकी क्षमता ही उसकी शक्ति है, उसका नाम स्वाहा है । इन्द्र वर्षा करते हैं, वर्षा करनेकी शक्तिका नाम इन्द्राणी है । रुद्र संहार करते हैं, उनकी संहारशक्तिका नाम रुद्राणी है ।

मैं—यह सब आप क्या कह रहे हैं ? जिस शक्तिसे मैं घड़ा उठाता हूँ या रोटी खाता हूँ, वह तो मुझे साक्षात् नहीं देख पड़ती । वह मेरी शक्ति

तो दुर्गादेवीकी तरह कपड़े लत्ते पहन कर सजधजकर मेरे पास नहीं बैठती। मेरी वैष्णवी ऐसा करती है, इसीसे मैं उसे अपनी शक्ति कह सकता हूँ।

बाबाजी—मूर्ख लोग ऐसा ही समझते हैं। तुम शरीरधारी हो, तुम्हारी शक्ति तुम्हारे शरीरमें है, उसके सिवा और कोई तुम्हारी शक्ति नहीं हो सकती।

मैं—तो देवता लोग क्या हैं? शरीरधारी हैं? तो फिर क्या उनकी शक्ति भी निराकार होगी?

बाबाजी—शरीरधारी और शरीररहित, दोनोंकी शक्ति निराकार ही होती है। किन्तु एक एक करके समझो। पहले यह समझो कि इन्द्रादि सभी देवता शरीरधारी नहीं हैं।

मैं—यह क्या? इन्द्रके अगर शरीर नहीं है तो स्वर्गके सिंहासनपर बैठकर अप्सराओंका नाच-गाना कौन देखता सुनता है?

बाबाजी—यह सब रूपक है। इसका गूढ़ अर्थ और किसी दिन समझाऊँगा। इस समय यह समझो कि जिससे वर्षा होती है वही इन्द्र है। जो जलाता है वही अग्नि है। जिससे जीव या वस्तुका ध्वंस होता है वही रुद्र है।

मैं—मैं नहीं समझा। कोई रोगसे मरता है, कोई डूबकर मरता है, कोई जल कर मरता है, कोई गिरकर मरता है, कोई कटकर मरता है। कोई जीव किसीको खा जाता है, कोई जीव किसीको मार डालता है। कोई वस्तु गल गलकर ध्वंसको प्राप्त होती है, कोई वस्तु सूखकर नष्ट होती है। इनमें कौन रुद्र है?

बाबाजी—सबका जो समष्टि भाव है, अर्थात् सबको एकत्र सोचनेसे जो समझमें आता है वही रुद्र है।

मैं—तो फिर रुद्र एक है या अनेक?

बाबाजी—एक है। जैसे इस कलसेमें जो जल है, इस बूँदमें जो जल है, और गंगामें जो जल है, सो सब एक ही जल है, वैसे ही जहाँ जो ध्वंसका कारण है वही रुद्र है।

मैं—रुद्रके शरीर नहीं है?

बाबाजी—वही तो कह रहा हूँ।

मैं—तो फिर महादेवकी मूर्ति बनाकर उनकी उपासना क्यों करते हैं? वह क्या उनका रूप नहीं है?

बाबाजी—उपासनाके लिए जिसकी उपासना करो उसका एक रूप होना चाहिए। नहीं तो उपासनामें मन नहीं लगता। तुम उस निराकार विश्वव्यापी रुद्रके स्वरूपका ध्यान कर सकते हो?

मैंने चेष्टा की, पर वैसा हो न सका। तब बाबाजीकी बात स्वीकार करनी ही पड़ी।

बाबाजीने कहा—जिन्होंने उस तरह ध्यान करना सीख लिया है वे कर सकते हैं। किन्तु उसके लिए ज्ञानका प्रयोजन है। पर जिसके ज्ञान नहीं है वह क्या उपासना करे ही नहीं? ऐसा तो उचित नहीं है। जिसके ज्ञान नहीं है वह जिस रूपसे रुद्रकी चिन्ता कर सकता है उसी रूपसे रुद्रकी उपासना करेगा। ऐसी अवस्थामें रूपकी कल्पना करके ध्यान करना सहज उपाय है। तुम यदि ऐसी एक रूपकी कल्पना करो कि वह संसारक्रियाका आदर्श समझा जाय, तो वह रुद्रहीकी मूर्ति है। इसीसे रुद्रके काल-भैरव रूपकी कल्पना की गई है। नहीं तो रुद्रके कोई रूप नहीं है।

मैं—यह तो समझा। किन्तु जैसे मेरी शक्ति मुझमें ही है, वैसे ही रुद्रकी शक्ति रुद्राणी भी रुद्रमें ही है। तब शिव और दुर्गाकी अलग अलग मूर्ति बनाकर क्यों पूजते हैं?

बाबाजी—तुम्हारा ध्यान करनेसे ही तुम्हारी शक्तिका ज्ञान नहीं हो सकता। जिसने आगमें कभी हाथ नहीं डाला, वह आगको देखते ही यह नहीं समझ सकता कि आगमें हाथ जल जायगा। अतएव शक्ति और शक्तिशालीकी अलग अलग आलोचना किये बिना शक्तिको समझना संभव नहीं। रुद्र भी निराकार है और रुद्रकी शक्ति भी निराकार है। जो ज्ञानी नहीं है और इसीकारण निराकारके स्वरूपका ध्यान करनेमें असमर्थ है, उसे उपासनाके लिए शक्ति और देवताके अलग अलग रूपोंकी कल्पना करनी पड़ती है।

मैं—किन्तु वैष्णव लोग विष्णुकी ही उपासना करते हैं, रुद्रकी उपासना नहीं करते। इस कारण रुद्राणीका प्रसाद खाना आपके लिए सर्वथा अनुचित है।

बाबाजी—विष्णुने पेट देकर मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी है कि रुद्राणी-के प्रसादसे उसे न भरूँ। किन्तु वह बात जाने दो, वास्तवमें रुद्राणी विष्णु-की ही शक्ति है।

मैं—यह क्या? रुद्राणी तो रुद्रकी शक्ति है।

बाबाजी—विष्णु ही रुद्र है।

मैं—आपकी ये बातें मानने योग्य नहीं जान पड़तीं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ये तीनों देवता अलग अलग हैं। एक सृष्टि, दूसरे पालन और तीसरे प्रलय करते हैं। फिर विष्णु रुद्र कैसे हो सकते हैं?

बाबाजी—जिन रईसके घर बैठा हुआ मैं भोजन कर रहा हूँ वह क्या करते हैं, जानते हो?

मैं—जानता हूँ, जमींदारी करते हैं।

बाबाजी—और कुछ नहीं करते?

मैं—कपड़ेकी दूकान भी करते हैं।

बाबाजी—और भी कुछ करते हैं?

मैं—रुपया देकर ब्याज खाते हैं।

बाबाजी—अच्छा। अगर मैं बाहर जाकर किसीसे कहूँ कि मैं जमींदारके यहाँ भोजनकर आया हूँ, किसीसे कहूँ कि मैं एक कपड़ेके सौदागरके यहाँ खा आया हूँ, और किसीसे कहूँ कि मैं एक महाजनके घरमें अपना पेट भर आया हूँ, तो वह तीन आदमियोंके सम्बन्धकी बात होगी या एक आदमीकी?

मैं—एक ही आदमीकी। क्योंकि एक ही आदमी तीनों पेशे करने-वाला है।

बाबाजी—वैसे ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर तीनों एक हैं। एक ही ईश्वर सृष्टि, पालन और संहार करता है। हिन्दूधर्ममें एक ईश्वरके सिवा तीन ईश्वर कभी नहीं हो सकते।

मैं—तो फिर तीनों रूपोंकी अलग अलग उपासना क्यों की जाती है?

बाबाजी—तुम अगर इन रईसको विशेष रूपसे जानना चाहो तो तुम्हें इनके सब कामोंको अलग अलग समझना पड़ेगा। ये जमींदारके रूपमें किस तरह जमींदारी करते हैं, सौदागरके रूपमें किस तरह सौदागरी करते हैं,

और महाजनके रूपमें किस तरह महाजनी करते हैं। वैसे ही ईश्वरकी उपासनामें ईश्वरके सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्योंको अलग अलग समझना पड़ता है। इसीसे हमारे यहाँ त्रिदेवकी उपासना प्रचलित है। अलग अलग कार्यके अनुसार एकहीके अलग अलग तीन नाम रख लिये गये हैं। तीनों नाम अलग अलग तीन आदमियोंके नहीं हैं।

मैं—यह तो मैं समझ गया, लेकिन गड़बड़ी फिर भी नहीं मिटी। वर्षा हुई और उससे अन्न पैदा हुआ, उसे खाकर सब जिये। तो बचाया किसने? पालनकर्त्ता विष्णुने या बरसानेवाले इन्द्रने?

बाबाजी—जो मैं कह चुका हूँ उसे अगर तुम समझ गये हो तो तुमको यह बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है कि इन्द्र, वायु, वरुण आदि कोई जुदा देवता नहीं हैं। जो सृष्टि करता है, वही जैसे पालन करता है वैसे ही संहार भी करता है। वे ही जलानेवाले अग्नि, बरसानेवाले इन्द्र, आँधी चलानेवाले पवन और प्रकाश करनेवाले सूर्य हैं। जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं, वे ही इन्द्र, वे ही अग्नि और वे ही सब देवता हैं। किन्तु जैसे हम लोग समझनेकी सुगमताके लिए एक ही जलको कहीं नदी, कहीं समुद्र, कहीं झील, कहीं तालाब, कहीं गढ़ा और कहीं कुआ कहते हैं, वैसे ही उपासनाकी सुगमताके लिए एक ही परमेश्वरको कहीं इन्द्र, कहीं अग्नि, कहीं ब्रह्मा और कहीं विष्णु कहते हैं।

मैं—तो उनका यथार्थ नाम क्या है?

बाबाजी—दो प्रकारसे उनकी उपासना होती है। जब उनको अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्गुण और सब जगतका आधार मानकर उनकी उपासना करते हैं, तब उन्हें ब्रह्म, परब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। और, जब उनको व्यक्त, उपास्य और इसी कारण चिन्तनीय, सगुण और सब जगतकी सृष्टि-स्थिति-संहारका कारण मानकर उनकी उपासना करते हैं, तब उन्हें बातचीतमें ईश्वर, वेदमें प्रजापति और पुराण-इतिहासोंमें विष्णु और शिव कहते हैं। जब एक साथ उनके दोनों रूपोंका ध्यान या उपासना कर सकते हैं—अर्थात् हमारे हृदयमें जब दोनों रूप भासित होने लगते हैं—तब उनको श्रीकृष्ण कहते हैं।

मैं—क्यों, तभी श्रीकृष्ण क्यों कहते हैं ?

बाबाजी—गीतामें श्रीकृष्णजीने अपनेको इन दोनों रूपोंसे ध्येय बतलाया है। मैं उनका दासानुदास हूँ, इस कारण उनको मैं इसी नामसे पुकारता हूँ। एक बार बोलो जय श्रीकृष्णचन्द्रकी। बोलो—कृष्ण-कृष्ण हरे हरे !

मैं—बाबाजी, इतना कृष्णभजन क्यों कर रहे हो ? यह तो बतलाओ कि 'अहिंसा' वैष्णवोंका धर्म है या नहीं ?

बाबाजी—अहिंसा वैष्णव-कन्या अवश्य है, किन्तु वह कुल त्यागकर बौद्धोंके घर चली गई है, इसीसे वह जातिभ्रष्ट हो गई है।

मैं—मैं आपकी यह पहेली नहीं समझ सका।

बाबाजी—देख भैया, वैष्णव बननेके पहले यह समझ लेना चाहिए कि वैष्णव-धर्म क्या है ? कंठी बाँधनेसे, तुलसीकी माला पहननेसे, छाप लगानेसे, निरामिष भोजन करनेसे, पञ्च संस्कारसे या वैष्णवी रखनेसे कोई वैष्णव नहीं कहा जासकता। अच्छा बतला तो सही, जगतमें सबसे श्रेष्ठ वैष्णव कौन हुआ है ?

मैं—नारद, ध्रुव, प्रह्लाद।

बाबाजी—प्रह्लाद ही सबमें श्रेष्ठ है। सुन, प्रह्लादने वैष्णवधर्मकी क्या व्याख्या की है—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत्य समत्वमाराधनमच्युतस्य।

अर्थात् हे दैत्यगण, तुम सर्वत्र समदर्शी बनो। समत्व अर्थात् सबको अपने समान जानना ही विष्णुकी आराधना है। कंठी,-तिलक, माला,-छाप क्या दिखाता है रे मूर्ख ! यह समदर्शी भाव ही अहिंसाधर्मका यथार्थ तात्पर्य है। समदर्शी होनेपर हिंसा रह नहीं सकती। यों समदर्शी होनेपर विष्णुका नाम न जानने पर भी मनुष्य वैष्णव हो सकता है। जो ईसाई या मुसलमान मनुष्यमात्रको अपने समान समझता है, वह चाहे ईसाकी पूजा करे और चाहे पीर-पैगम्बरको माने, वही सच्चा वैष्णव है। और तुम्हारे कंठी-तिलकवाले दलमें जो समदर्शी नहीं हुआ, वह वैष्णव भी वैष्णव नहीं है।

मैं—तो क्या मुसलमानके घर खाना भी खा लेना चाहिए?

बाबाजी—इस कानसे सुनता है और उस कानसे निकाल देता है? जब सबको समदृष्टिसे देखते हैं, सबको अपने समान समझना ही वैष्णव धर्म है, तब हिन्दू-मुसलमान और छोटी-बड़ी जातिका भेद-भाव रखना भी उचित नहीं। जिसमें यह भेद-भाव है वह वैष्णव नहीं। आज तुझको कुछ वैष्णव धर्म समझाया है। अब किसी दिन ब्रह्मकी उपासना और कृष्णकी उपासना समझाऊँगा। धर्मकी पहली सीढ़ी बहुत देवोंकी उपासना है। दूसरी सीढ़ी सकाम ईश्वरोपासना है। तीसरी सीढ़ी निष्काम ईश्वरोपासना या वैष्णवधर्म अथवा ज्ञानयुक्त ब्रह्मोपासना है। चरमधर्म श्रीकृष्णकी उपासना है।

—श्रीहरिदास वैरागी।

---

(३)

राधा-कृष्ण।

मैं एक पुराने गीतको धीरे गुनगुना रहा था।—"ब्रज तजिके जनि जाहु नाथ।" यह सुनते ही 'आहा!' कहकर बाबाजी रोने लगे। मुझसे रहा न गया, मैं हँस पड़ा। बाबाजीने खड़े होकर कहा—हँसता क्यों है रे मूर्ख?

मैं—तुम जराजरासी बातपर रोने लगते हो, इसीसे मैं हँस रहा हूँ।

बाबाजी—तू जिसे जरासी बात कहता है, उसे कुछ समझा भी? या तोतेकी तरह खाली रट ही रहा है।

मैं—समझा क्यों नहीं? राधा कृष्णसे कह रही हैं—"तुम ब्रजको छोड़कर न जाना स्वामी।"

बाबाजी—ब्रज क्या है?

मैं—कृष्ण जहाँ गायें चराते और गोपियोंके बीचमें बंसी बजाते थे।

बाबाजी—चल मूर्ख! ब्रज धातु किस अर्थमें है?

मैं—व्रज धातु ? आठ धातुएँ तो मुझे मालूम हैं। व्रज धातु कौनसा धातु है ?

बाबाजी—धातु है 'व्रज गमने'—व्रज, अर्थात् जानेवाला।

मैं—जो जाता है वही व्रज है ? गऊ जाती है, तुम जाते हो, मैं जाता हूँ, सब व्रज है ?

बाबाजी—सब व्रज है। जानता है, जगत् किसे कहते हैं ?

मैं—यही विश्व जगत् है।

बाबाजी—जगत् शब्द किस धातुसे बना है ?

मैं—धातुको छोड़कर जो पूछिए वह मैं बताऊँ। यह शब्द सुनते ही मुझे एक प्रकारका भय लगता है।

बाबाजी—'गम' धातुसे जगत् बना है। जो जाता है वही जगत् है। विश्व नाशशील है, इससे वह भी जगत् है। व्रज शब्द और जगत् शब्दका एक ही अर्थ है।

मैं—तो क्या व्रज कोई एक जगह नहीं है ? मैं कहता हूँ वृन्दावन ही व्रज है।

बाबाजी—वृन्दावन नामका शहर बंगालके वैष्णवोंने बना लिया है।

मैं—तो पुराणमें वृन्दावन किसे कहा है ?

बाबाजी—'वृन्दा यत्र तपस्तेपे तत्तु वृन्दावनं स्मृतम्'—वृन्दाने जहाँ तप किया (करती है, कहना ठीक होगा) वही वृन्दावन है।

मैं—वृन्दा कौन ?

बाबाजी—' राधाषोडशनाम्नां च वृन्दा नाम श्रुतौ श्रुतम्। तस्याः क्रीडावनं रम्यं तेन वृन्दावनं स्मृतम्॥' राधा ही वृन्दा है।

मैं—राधा कौन ?

बाबाजी—राध धातु—

मैं—धातु छोड़ो बाबाजी !

बाबाजी—"राध साधने प्राप्तौ तोषे पूजायां वा।" जो ईश्वरकी साधना करता है, उनको पाता है, उनकी पूजा या आराधना करता है, वही राधा है। तुम जब सच्चे ईश्वरके भक्त हो जाओगे तब राधा हो सकोगे।

मैं—तो फिर वह कोई गोपिनी नहीं है ?

बाबाजी—गोपिनी नहीं—गोपी शब्द है । जानते हो, गोपी किसे कहते हैं ?

मैं—गोपकी स्त्री गोपी ।

बाबाजी—गो शब्दका अर्थ है पृथ्वी । जो धर्मात्मा है, वे ही पृथ्वीके रक्षक हैं । वे ही गोप हैं । स्त्रीलिंगमें वे ही गोपी हैं ।

मैं—तो फिर गोलोक क्या है ?

बाबाजी—यह पृथ्वी ही गोलोक—भूलोक—है ।

मैं—आपने सब उलट दिया । अच्छा, यदि सभी रूपक है, तो फिर नन्द क्या है ?

बाबाजी—नन्द धातु हर्ष और आनन्दके अर्थमें है । हम लोग उपसर्गके बिना बात नहीं करते, यही एक बड़ी आफत है । आनन्द ही, नन्द है ।

मैं—भगवान् क्या आनन्दमें पैदा होते हैं, जो उन्हें नन्द-नन्दन कहते हैं ?

बाबाजी—कृष्णको नन्दका पुत्र कोई नहीं कहता । वे वसुदेवके पुत्र हैं; नन्दके घर कुछ दिनके लिए जाकर रहे थे ।

मैं—इसका क्या अर्थ है ?

बाबाजी—परमानन्द-धाम ही ईश्वरका निवास है । अर्थात् वे आनन्दमें ही विद्यमान हैं ।

मैं—तो फिर यशोदा कहाँ जायँगी ? उन्होंने कृष्णको पाला-पोसा था, इसका तात्पर्य क्या है ?

बाबाजी—ईश्वरके यश अर्थात् महिमाके कीर्त्तन द्वारा वे हृदयमें स्थापित और परिवर्द्धित किये जाते हैं ।

मैं—तो सभी रूपक है ?

बाबाजी—मेरा दृढ विश्वास है कि जगदीश्वरने सशरीर पृथ्वीपर अवतार लेकर जगतमें धर्म स्थापित किया था । जैसा कि उन्होंने आप गीतामें कहा है—'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।' वे रूपक नहीं हैं । पुराण-लेखकने उनको बीचमें स्थापित करके यह धर्मसम्बन्धी रूपक रचा है । कृष्ण नामका और एक अर्थ है, इसीसे इस रूपकके रचनेमें एक

सुविधा हुई है। 'कृष्' धातु कर्षण या आकर्षण अर्थमें है। जो मनुष्यके चित्तको अपनी ओर खींचे वही कृष्ण है।

मैं—बाबाजी, यह तो कष्ट-कल्पना है।

बाबाजी—सो तो है ही। कृष्ण स्वयं रूपक नहीं हैं, इसीसे कष्ट-कल्पना करके यह अर्थ निकालना पड़ता है। वे शरीरधारी थे, अन्यान्य मनुष्योंके साथ कार्यक्षेत्रमें विद्यमान थे। तथापि वे अशरीरी जगदीश्वर हैं। उनको प्रणाम करो।

मैं—किन्तु रूपकका क्या होगा? क्या राधा-कृष्णकी उपासना करनी चाहिए?

बाबाजी—जगदीश्वरके साथ उनके भक्तोंकी उपासना करनी उचित ही है। क्यों कि भक्त तन्मय होते हैं। भक्त भी ईश्वरका अंश हो जाते हैं। जगत् ईश्वरका भक्त है। जगत् ईश्वरमय है। जगतके ईश्वरके साथ जगतकी भी उपासना करनी चाहिए। बोलो—श्रीराधावल्लभाय नमो नमः।

मैं—श्रीराधावल्लभाय नमो नमः।

—हरिदास वैरागी।

काम।

हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोंमें 'काम' शब्दका सदा व्यवहार हुआ करता है। जो कामात्मा या कामार्थी है, उसकी वारम्बार निन्दा की गई है। किन्तु साधारण पाठक इस 'काम' शब्दका अर्थ समझनेमें बड़ी गड़बड़ किया करते हैं। इसी कारण वे सर्वत्र शास्त्रका ठीक ठीक तात्पर्य नहीं समझ सकते। वे साधारणतः किसी विशेष इन्द्रियकी तृप्तिकी इच्छाके अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया करते हैं। वे समझते हैं कि शास्त्रमें भी इसी अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया गया है। किन्तु यह उनका भ्रम है। महाभारतसे दो-एक श्लोक उद्धृत करके यहाँपर काम शब्दका अर्थ समझानेकी चेष्टा की जाती है।

"पाँच इन्द्रिय, मन और हृदय अपने विषयमें वर्त्तमान रहकर जो प्रीति प्राप्त करते हैं उसीका नाम काम है।" (वनपर्व, ३३ वाँ अध्याय) यह काम एकदम निन्दाके योग्य नहीं ठहरता। 'मन और हृदय' यह न कहकर अगर केवल पाँच इन्द्रियोंकी बात कही जाती तो समझा जाता कि इन्द्रियवश्यता (Sensuality) रूप कुप्रवृत्तिका नाम काम है। किन्तु 'मन और हृदय'का उल्लेख रहनेसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। महाभारतमें ही दूसरे स्थानपर कहा गया है कि "माला चन्दन आदि पदार्थोंके स्पर्श या सुवर्णादि पदार्थोंके लाभसे मनुष्यको जो प्रसन्नता होती है, उसीका नाम काम है।"

इससे यह देखा जाता है कि एक तो वह किसी प्रकारकी प्रवृत्ति या वृत्ति नहीं है; प्रवृत्ति या वृत्तिकी तृप्तिकी अवस्थामात्र है। दूसरे वह सर्वदा निन्दनीय या निन्दित सुख नहीं है। वह भले-बुरे कर्मोंका फलमात्र है। इसी कारण पीछेसे कहा गया है कि वही कर्मका एक उत्कृष्ट फल है। मनुष्य इसी तरह धर्म, अर्थ और कामके ऊपर अलग अलग दृष्टिपात करके केवल धर्मपर या कामपर न हो। निरन्तर समानभावसे उसे इस त्रिवर्गका अनुशीलन करना चाहिए। शास्त्रमें कहा गया है कि पहले प्रहरमें धर्मानुष्ठान, दूसरे प्रहरमें धनोपार्जन और तीसरे पहरमें कामभोग करना उचित है।

'केवल धर्मपर न होना चाहिए,' ऐसी बात सुननेसे एकाएक यह जान पड़ता है कि उपदेश देनेवाला आदमी या तो घोर अधर्मी है और या धर्मशब्दका किसी विशेष अर्थमें व्यवहार कर रहा है। यहाँ पर ये दोनों बातें कुछ कुछ सच हैं। यहाँपर वक्ता स्वयं भीमसेन है। वे अधर्मी नहीं हैं, किन्तु युधिष्ठिर या अर्जुनकी तरह धर्मके सबसे ऊँचे सोपानपर नहीं पहुँच सके थे और धर्म शब्दका व्यवहार भी यहाँ उन्होंने विशेष अर्थमें किया है। उनकी एक बातसे ही यह समझमें आजाता है। वे इसके बाद ही कहते हैं—"दान, यज्ञ, साधु-पूजा, वेदपाठ और सरलता—ये ही कई एक प्रधान धर्म हैं।"

वास्तवमें हम इस समय जिसे धर्म कहते हैं वह दो प्रकारका है। एक अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला और दूसरा औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला। औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म ही धर्मका प्रधान अंश है। किन्तु अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म भी धर्म है, और वह एकदम तजने योग्य नहीं है। मैं दूसरेको सुखी रखकर अगर आप भी सुखसे रह सकता हूँ, तो उसे छोड़कर इच्छा-पूर्वक क्यों कष्ट उठाऊँगा? इच्छापूर्वक व्यर्थ कष्ट उठाना भी अधर्म है। यहाँपर भीमसेन दूसरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मको ही धर्म और अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मके फलभोगको काम कह रहे हैं, यह समझ लेनेसे 'केवल धर्मपर न होना चाहिए' यह उक्ति युक्तिसंगत जान पड़ती है।

किन्तु वास्तवमें धर्मके दो विभाग—आत्मसम्बन्धी और परसम्बन्धी—करना ठीक नहीं है। धर्म एक है। धर्ममात्रका अपनेसे और औरोंसे सम्बन्ध है। बहुत लोगोंका मत है कि धर्म केवल औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला ही होना चाहिए। किन्तु ईसाई आदि कुछ लोगोंका कहना है कि जिससे हम लोग परकालमें सद्गति प्राप्त कर सकें, वही—केवल आत्मसम्बन्धी ही—धर्म है।

लेकिन असल बात तो यह है कि धर्मका सम्बन्ध न केवल अपनेसे है और न केवल औरोंसे है। हृदयकी सब वृत्तियोंका उचित अनुशीलन और परिणति ही धर्म है। यह काम अपने या औरोंके लिए नहीं, धर्म समझ कर ही करना चाहिए। उन वृत्तियोंका सम्बन्ध अपनेसे भी है और औरोंसे भी है। उनके अनुशीलनसे स्वार्थ और परार्थ एकसाथ सिद्ध होते हैं। मतलब यह है कि धर्मको इस प्रकारसे समझकर स्वार्थ और परार्थका भेद मिटा देना ही इस अनुशीलनवादका एक उद्देश्य है। मैंने अपने लिखे 'धर्म-तत्त्व' नामके निबन्धमें यह अनुशीलनवाद समझाया है।



ज्ञान ।

भारतवर्षमें ‘ दर्शन ’ किसे कहते हैं ? इसका उत्तर देनेसे पहले यह समझना होगा कि यूरोपमें, जिस अर्थमें, ‘ फिलासफी ’ शब्दका व्यवहार होता है उस अर्थमें ‘ दर्शन ’ शब्दका व्यवहार नहीं होता । वास्तवमें फिलासफी शब्दका कोई एक ठीक अर्थ नहीं है । कभी इसका अर्थ अध्यात्मतत्त्व, कभी इसका अर्थ प्राकृतिक विज्ञान, कभी इसका अर्थ धर्मनीति और कभी इसका अर्थ विचार-विद्या होता है । इनमेंसे एक भी अर्थ दर्शन शब्दके अर्थके अनुरूप नहीं है । फिलासफीका उद्देश्य ज्ञानविशेष है; इसके सिवा उसका और कोई उद्देश्य नहीं है । दर्शनका भी उद्देश ज्ञान है सही, किन्तु उस ज्ञानका भी उद्देश्य है । वह उद्देश्य, निःश्रेयस्, मुक्ति, निर्वाण या अथवा ऐसे ही किसी दूसरे नामसे युक्त अवस्था है । यूरोपकी फिलासफीका साधनीय ज्ञान ही है, पर दर्शनमें ज्ञान साधन मात्र है । इसके सिवा दोनोंमें एक और भारी भेद है । फिलासफीका उद्देश्य ज्ञानविशेष—कभी आध्यात्मिक, कभी भौतिक, कभी नैतिक और कभी सामाजिक ज्ञान—है । किन्तु सर्वत्र पदार्थमात्रका ही ज्ञान दर्शनका उद्देश्य है । इस कारण सभी प्रकारके ज्ञान दर्शनके अन्तर्गत हैं ।

संसार दुःखमय है । प्राकृतिक बल सदा मनुष्यके सुखदुःखका प्रतिद्वन्द्वी है । तुम जो कुछ सुख भोगते हो, उसे बाह्य प्रकृतिके साथ युद्ध करके प्राप्त करते हो । मनुष्य-जीवन प्रकृतिके साथ लम्बी लड़ाई मात्र है । जब तुम समरमें जय पाते हो तभी तुमको कुछ सुख प्राप्त होता है । किन्तु मनुष्यबलकी अपेक्षा प्राकृतिक बल अनेकगुणा भारी है । अतएव मनुष्यकी जय कभी कभी होती है । और प्रकृतिकी जय नित्य निरन्तर हुआ करती है । तब तो मनुष्य-जीवन या जन्म यन्त्रणामय ही है । उसपर आर्य लोगोंके मतके अनुसार वह जन्म बारबार मिलता है । इस जन्ममें किसी तरह अनन्त दुःखको भोगकर, प्राकृतिक युद्धमें अन्तको परास्त होकर, यदि जीवने देह-त्याग किया तो भी क्षमा नहीं है । फिर जन्मग्रहण करना होगा, फिर अनन्त दुःख भोगना होगा, फिर मरना होगा, फिर जन्म लेना होगा,

फिर उसी दुःखका सामना है। इस अनन्त दुःखकी क्या निवृत्ति नहीं है? मनुष्यका निस्तार नहीं है?

इसके दो उत्तर हैं। एक उत्तर यूरोपका है और एक उत्तर भारतवर्षका है। यूरोपके लोग कहते हैं कि प्रकृति जीती जा सकती है। जिससे प्रकृति पर जय पा सको, वही चेष्टा करो। इस जीवन-संग्राममें प्रकृतिको परास्त करनेके लिए शस्त्र-संग्रह करो। प्रकृतिसे पूछने पर वह खुद उन शस्त्रोंको बतला देगी। प्राकृतिक तत्त्वोंका अध्ययन करो। प्रकृतिके गुप्त तत्त्वोंको जान-कर उन्हींके बलसे प्रकृतिको जीतकर मनुष्य-जीवनको सुखमय बनाओ। इस उत्तरका फल यूरोपका विज्ञानशास्त्र है।

भारतवर्षका उत्तर यह है कि प्रकृति अजेय है। जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक दुःख भी रहेगा। अतएव प्रकृतिसे सम्बन्ध न रखना ही दुःखनिवारणका एक मात्र उपाय है। वह सम्बन्धविच्छेद केवल ज्ञानके ही द्वारा हो सकता है। इस उत्तरका फल भारतके दर्शनशास्त्र हैं।

वह ज्ञान क्या है? आकाश-कुसुम कहनेसे भी तो एक ज्ञान होता है। क्योंकि आकाश क्या है सो हम जानते हैं और कुसुम क्या है सो भी हम जानते हैं। मनकी शक्तिके द्वारा दोनोंका संयोग कर सकते हैं। किन्तु ऐसा ज्ञान दर्शनका उद्देश्य नहीं है। यह भ्रम-ज्ञान है; यथार्थ ज्ञान ही दर्शनका उद्देश्य है। इस यथार्थ ज्ञानको प्रमा-ज्ञान वा प्रमा-प्रतीति कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञान क्या है?

जो जानते हैं वही ज्ञान है। जो जानते हैं उसे किस तरह जाना है?

कुछ विषयोंको इन्द्रियोंके साक्षात् संयोगसे जान सकते हैं। यह घर, यह वृक्ष, यह नदी, यह पर्वत हमारे सामने हैं। इनको हम आँखोंसे देख रहे हैं। इस लिए हम जानते हैं कि यह घर, यह वृक्ष, यह नदी, यह पर्वत है। अतएव ज्ञातव्य पदार्थके साथ चक्षु-इन्द्रियके संयोगसे हमें उक्त ज्ञान प्राप्त हुआ।* इसे चाक्षुष-प्रत्यय कहते हैं। इसी तरह घरमें

---

* गृह–पर्वत आदि दूर हैं, हमारी आँखोंसे लगे हुए नहीं हैं, तो फिर इन्द्रियसे उनका संयोग किस तरह हुआ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि दृष्ट पदार्थपर किरणें पड़ती हैं और वे किरणें वहाँसे पलटकर जब हमारे नेत्रोंमें प्रवेश करती हैं तब वह पदार्थ हमें दीख पड़ता है।

रहकर हमने सुना कि मेघ गरज रहे हैं, पक्षी बोल रहे हैं। यहाँपर मेघके शब्द और पक्षीके बोलनेका कानोंके द्वारा प्रत्यक्ष--ज्ञान हुआ। यह श्रवणेन्द्रियका प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार चक्षु, श्रवण, घ्राण, त्वचा और रसना इन पाँच इन्द्रियोंके द्वारा पाँच प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आर्य दार्शनिकोंने मनकी भी गिनती इन्द्रियोंमें की है। अतएव वे मानसप्रत्यक्ष भी मानते हैं। मन बाह्य इन्द्रिय नहीं है। भीतरी इन्द्रियके साथ बाहरी विषयका संयोग असंभव है। अतएव मानसप्रत्यक्षसे बाह्य विषय नहीं जाना जा सकता। किन्तु अन्तर्ज्ञान मानस-प्रत्यक्षके ही द्वारा हुआ करता है।

जो पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, उसके विषयमें हमें ज्ञान होता है किन्तु प्रत्यक्षके बिना भी हमारा विषयका ज्ञान सूचित होता है। मैं जिसके किवाड़े बंद हैं उस कोठरीमें सोया हुआ हूँ। इसी समय मेघका शब्द सुन पड़ा। इससे श्रावण-प्रत्यक्ष या श्रवणसम्बन्धी प्रत्यक्ष हुआ। किन्तु यह प्रत्यक्ष ध्वनिका है, मेघका नहीं। मेघ यहाँपर हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं है। तथापि हमको मालूम हो गया कि आकाशमें मेघ है। ध्वनिके प्रत्यक्षसे मेघके अस्तित्वका ज्ञान कहाँसे हुआ? हम पहले बहुत बार देख चुके हैं कि आकाशमें मेघके सिवा कभी ध्वनि नहीं होती। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मेघ न हो और ऐसी ध्वनि सुन पड़े। अतएव बंद दरवाजेवाली कोठरीमें रहकर भी हम बिना प्रत्यक्षके जान गये कि आकाशमें मेघ है। इसको अनुमिति या अनुमान कहते हैं। मेघकी ध्वनिको हमने प्रत्यक्ष सुनकर जाना, और मेघको अनुमानके द्वारा।

मान लो, बंद दरवाजेवाली कोठरीमें अन्धकार है और उसके भीतर तुम अकेले हो। इसी समय तुमने शरीरके साथ अन्य किसी मनुष्यके शरीरके स्पर्शका अनुभव किया। उस समय कुछ देखे बिना ही तुमने जान लिया कि कोठरीके भीतर मनुष्य आया है। वह स्पर्शका ज्ञान त्वचाका प्रत्यक्ष है, किन्तु कोठरीके भीतर मनुष्यका ज्ञान अनुमान है। उस अँधेरी कोठरीमें तुम यदि जूहीके फूलकी महक पाओगे तो समझोगे कि वहाँ पुष्प आदि हैं। यहाँ गन्ध ही प्रत्यक्षका विषय है। पुष्प अनुमानका विषय है।

मनुष्य बहुत ही थोड़ी बातोंमें स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है। अधिकांश ज्ञान अनुमानपर ही निर्भर है। अनुमान शक्ति न होती तो हम प्रायः कोई कार्य न कर सकते। विज्ञान दर्शन आदि अनुमानके ऊपर ही बने हैं।

किन्तु जैसे कोई भी मनुष्य सब विषयोंका स्वयंप्रत्यक्ष नहीं कर सकता, वैसे ही कोई व्यक्ति सब तत्त्वोंको स्वयं अनुमान करके सिद्ध नहीं कर सकती। ऐसे अनेक विषय हैं कि अनुमान करके उन्हें जाननेमें जितने परिश्रमकी आवश्यकता है उतना परिश्रम एक मनुष्य अपने जीवनकाल भरमें कर ही नहीं सकता। ऐसे अनेक विषय हैं कि उन्हें अनुमानके द्वारा सिद्ध करनेके लिए जिस विद्या, जिस ज्ञान, जिस बुद्धि और जिस तत्पर-ताका प्रयोजन है वह विद्या, बुद्धि, ज्ञान और तत्परता अधिकांश लोगोंमें नहीं देखी जाती। अतएव यह मानना पड़ेगा कि ऐसे अनेक अत्यन्त प्रयोजनीय विषय हैं कि बहुत लोग स्वयं प्रत्यक्ष या अनुमानके द्वारा उन्हें जान नहीं सकते। ऐसे स्थानपर हम लोग क्या करते हैं? जिसने उस विषयको स्वयं प्रत्यक्ष किया है या उसका अनुमान किया है, उसकी बात सुनकर उसपर विश्वास करते हैं। इटलीदेशके उत्तरमें जो 'आल्पस' नामकी पर्वतश्रेणी है उसे तुमने प्रत्यक्ष नहीं देखा। किन्तु जिन्होंने देखा है उनकी लिखी पुस्तक पढ़कर तुमको उसका ज्ञान प्राप्त हुआ। परमाणुमात्र अन्य परमाणुओंके द्वारा आकृष्ट होते हैं। यह प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता और तुम भी इसे गणनाके द्वारा सिद्ध नहीं कर सके। इस कारण तुमने 'न्यूटन' की बातपर विश्वास करके यह ज्ञान प्राप्त किया।

न्याय, सांख्य आदि आर्योंके दर्शनशास्त्रोंमें इसे एक तीसरा प्रमाण माना है। यह शब्द-प्रमाण है। उक्त दर्शनकारोंकी समझमें वेद आदिकी प्रामा-णिकता इसी प्रमाणपर निर्भर है। आप्तवाक्य या गुरुका उपदेश साधारणतः विश्वासके योग्य है। आर्य लोगोंके मतसे यह भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इसीका नाम शब्द-प्रमाण है।

किन्तु चार्वाक आदि कुछ आर्य दार्शनिक इसे प्रमाण नहीं मानते। यूरो-पके दार्शनिक भी इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण माननेके लिए तयार नहीं हैं।

साधारणतः देखा जाता है कि सबकी बातोंपर विश्वास करना अकर्त्तव्य है। यदि कोई प्रसिद्ध मिथ्यावादी आकर कहे कि वह जलमें आग जलते

देख आया है, तो इस बातपर कोई विश्वास न करेगा। उसके उक्त उपदेशसे मिथ्याज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव व्यक्ति-विशेषका उपदेश ही प्रमाण कहकर ग्राह्य है। तथापि वह ज्ञान प्राप्त करनेके पहले यह मीमांसा आवश्यक है कि कौन विश्वासके योग्य है और कौन नहीं। अब प्रश्न यह है कि किस प्रमाणके ऊपर निर्भर करके यह मीमांसा की जाय? किस प्रमाणके ऊपर निर्भर करके 'मनु' आदिका कहना 'आप्त-वाक्य' समझ कर ग्रहण किया जाय और रामू श्यामूकी बातें अग्राह्य समझी जायँ? देखा जाता है कि अनुमानके द्वारा इस समस्याको हल करना होगा। मनुके साथ हमारे पादरी साहबका मतभेद है। तुम सदासे सुनते आ रहे हो कि मनुजी अभ्रान्त ऋषि थे और पादरी साहब स्वार्थपर साधारण आदमी हैं। इस लिए तुमने अनुमान किया कि मनुकी बात ग्राह्य है और पादरीकी बात अग्राह्य है। मनुके समान अभ्रान्त ऋषिने गोमांस सेवनका निषेध किया है; इसीसे तुमने अनुमान किया कि गोमांस-अभक्ष्य है। तब 'शब्द' को एक स्वतन्त्र प्रमाण न कहकर अनुमानके अन्तर्गत ही क्यों नहीं कहते?

केवल यही नहीं। जिसके कुछ उपदेशोंको ग्राह्य समझते हो उसीके अन्य कुछ उपदेशोंको अग्राह्य समझते हो। माध्याकर्षणके सम्बन्धमें न्यूट-नका जो मत है उसे तुम मानते हो, किन्तु प्रकाशके सम्बन्धमें जो उनका मत है उसे छोड़कर तुम क्षुद्रतर बुद्धिजीवी यंग और फेनेल साहबका मत मानते हो। इसका कारण क्या है? इसके कारणका अनुसंधान करनेसे वह कारण अनुमान ही जान पड़ेगा। अनुमानके द्वारा तुमने जाना है कि माध्या-कर्षणके सम्बन्धमें न्यूटनका मत सत्य है और प्रकाशके सम्बन्धमें जो उनका मत है वह गलत है। यदि शब्द एक जुदा ही प्रमाण होता तो उसके सभी मतोंको तुम स्वीकार करते।

किन्तु भारतवर्षमें यही होता है। भारतवर्षमें जिसका एक मत अभ्रान्त और ग्राह्य है उसके सभी मत ग्राह्य समझे जाते हैं। इसका कारण यही है कि यहाँ शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। आर्योंके दर्शनशास्त्रकी आज्ञा है कि आप्तवाक्यमात्र ग्राह्य हैं। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता ही

नहीं कि इस प्रकार विशेष विचारके बिना ऋषियों और पण्डितोंके हरएक मतको ग्रहण करना भी भारतवर्षकी अवनतिका एक कारण है। यहाँके दार्शनिकोंकी इस एक क्षुद्र भ्रान्तिसे साधारण कुफल या अनिष्ट नहीं हुआ है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दके अतिरिक्त नैयायिक लोग उपमितिको भी एक स्वतन्त्र प्रमाण समझते हैं। विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होगा कि उपमिति अनुमितिका प्रकारभेद मात्र है, और इसी कारण सांख्य आदि दर्शनोंमें उपमितिको एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। अतएव उपमितिके विस्तृत उल्लेखका प्रयोजन नहीं जान पड़ता। वास्तवमें प्रत्यक्ष और अनुमान ही ज्ञानकी जड़ हैं।

अनुमानकी भी जड़ प्रत्यक्ष ही है। जिस विषयका कभी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। तुम अगर कभी पहले मेघको न देखते या अगर और कोई कभी न देखता, तो तुम बंद दरवाजेवाले घरमें मेघका गर्जन सुनकर कभी मेघका अनुमान न कर सकते। तुम अगर कभी जूहीकी खुशबूका प्रत्यक्ष ज्ञान न प्राप्त करते, तो अँधेरे घरमें जूहीकी खुशबू सूँघकर कभी अनुमान न कर सकते कि इस घरमें जूहीका फूल है। इसी तरह अन्यान्य पदार्थोंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। कभी कभी एक अनुमानकी जड़में बहुतसे बहुजातीय पूर्व-प्रत्यक्ष भी देखे जाते हैं। एक एक वैज्ञानिक नियम हजार हजार तरहके प्रत्यक्ष ज्ञानका फल है।

अतएव प्रत्यक्ष ही ज्ञानका एकमात्र मूल है। यही सब प्रमाणोंकी जड़ है। * अनेक लोग यह जानकर विस्मित होंगे कि दर्शनशास्त्र दो-तीन हजार वर्षतक घूम-फिर कर फिर उसी चार्वाकके मतके पास पहुँच गया है। धन्य है आर्य लोगोंकी बुद्धि! इतने दिनोंके बाद जिसे ह्यूम, मिल, बेन आदिने सिद्ध किया है उसे दो हजार वर्षसे भी पहले बृहस्पति प्रतिपादित कर गये हैं। कोई यह न समझे कि हम यह कह रहे हैं कि प्रत्यक्षके सिवा प्रमाण नहीं है। हम यह कहते हैं कि सब प्रमाणोंकी जड़ प्रत्यक्षप्रमाण है।

---

* इन सब मतोंको इस समय मैंने त्याग कर दिया है।—ग्रन्थकार।

बृहस्पतिके सब ग्रन्थ लुप्त हो जानेके कारण यह निश्चय करना कठिन है कि बृहस्पतिने ठीक यही कहा था या नहीं ।

प्रत्यक्ष ही ज्ञानकी एकमात्र जड़ है । किन्तु इस तत्त्वमें यूरोपके दार्शनिकोंके बीच एक भारी झगड़ा है । कोई कोई कहते हैं, हम लोगोंके ऐसे अनेक ज्ञान हैं जिनके मूलमें प्रत्यक्ष प्रमाण नही पाया जाता । जैसे काल, आकाश आदि ।

यह बात समझना जरा कठिन है । आकाशके सम्बन्धमें एक सहज बात ले लीजिए । जैसे—दो समान्तराल रेखायें चाहे जितनी दूरतक घसीटिए, वे कभी मिल नहीं सकतीं । इस तत्त्वको हम निश्चित रूपसे जानते हैं । किन्तु यह ज्ञान हमने कहाँसे पाया ? प्रत्यक्षवादी कहेंगे कि "प्रत्यक्षके द्वारा । हमने जितनी समान्तराल रेखायें देखी हैं वे कभी एकमें मिलीं नहीं ।" इसपर दूसरे पक्षके लोग कहेंगे कि "जगतमें जितनी समान्तराल रेखायें हुई हैं, उन सबको तुमने नहीं देखा । तुमने जिन रेखाओंको देखा है वे अवश्य नहीं मिलीं, किन्तु तुमने यह किस तरह जाना कि कभी कहीं ऐसी दो समान्तराल रेखायें नहीं खींची गईं, या खींची न जायँगीं, जो खींचते खींचते एक जगहपर न मिली हों, या न मिलेंगी ? जिसे मनुष्यने प्रत्यक्ष देखा है उससे तुमने अप्रत्यक्ष विषयके बारेमें कैसे निश्चय कर लिया ? तथापि हम यह जानते हैं कि जो तुम कह रहे हो वह सत्य है—कभी कहीं ऐसी दो समान्तराल रेखायें नहीं हो सकतीं कि वे मिल जायँ । तब यह मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्षके सिवा और भी किसी ज्ञानका मूल तुममें है; नहीं तो तुमने यह प्रत्यक्षसे अतिरिक्त ज्ञान कहाँसे पाया ?"

यही कहकर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कोम्टने लक और ह्यूमके प्रत्यक्षवादका प्रतिवाद किया है । इसके अतिरिक्त ज्ञानके सम्बन्धमें वे यह कहते हैं कि जहाँ बाह्यविषयका ज्ञान हमारी इन्द्रियके द्वारा होता है वहाँ बाह्यविषयकी प्रकृतिके सम्बन्धमें किसी तत्त्वकी नित्यता हमारे ज्ञानसे अतीत होनेपर भी हमारी इन्द्रियोंकी प्रकृतिकी नित्यता हमारे ज्ञानके अधीन है । अपनी इन्द्रियोंकी प्रकृतिके अनुसार हम बाह्यविषयोंकी कुछ निर्दिष्ट अवस्थाओंको प्राप्त

समझते हैं। इन्द्रियोंकी प्रकृति सर्वत्र एक तरहकी है, इसी लिए बाह्य विषयोंकी सब अवस्थायें भी हमारे निकट सर्वत्र एकरूप हैं। इसीसे हम काल, आकाश आदिके समवायकी नित्यता जान सकते हैं। यह ज्ञान हमारा ही है, इसीसे कोम्टने इसको स्वतःप्राप्त या आन्तरिक ज्ञान नाम दिया है।

पाठकोंको फिर देख पड़ेगा कि आधुनिक यूरोपका दर्शन घूम फिरकर उसी प्राचीन भारतीय दर्शनमें मिल रहा है। जैसे चार्वाकके प्रत्यक्षवादके साथ मिल और बेनके प्रत्यक्षवादका सादृश्य देखा गया है, वैसे ही वेदान्तके मायावादके साथ कोम्टके इस प्रत्यक्ष प्रतिवादका सादृश्य देखा जाता है। यूरोपमें आध्यात्मिक विषयके ऐसे बहुत कम तत्त्वोंका आविष्कार हुआ है जिनकी सूचना प्राचीन आर्योंने अपने ग्रंथोंमें न कर दी हो।

कोम्टके 'आभ्यन्तरिक ज्ञान' के मतके प्रधान प्रतिद्वन्द्वी जान स्टुअर्ट मिल हैं। उन्होंने कार्य-कारण-सम्बन्धके नित्यत्वका आश्रय लिया है। वे कहते हैं कि हम लोगोंने प्रत्यक्षके द्वारा एक यह अकाट्य संस्कार प्राप्त किया है कि जहाँ कारण वर्त्तमान है वहीं उसका कार्य वर्तमान रहेगा। जहाँ पहले देखा है कि 'क' वर्तमान हैं वहीं 'ख' को भी देखा है। फिर अगर हम कहीं 'क' को देखें तो हम जान सकते हैं कि यहींपर 'ख' भी है। क्योंकि हमने प्रत्यक्षके द्वारा जाना है कि जहाँ कारण रहता है वहीं उसका कार्य रहता है। समान्तराल-भाव कारण है और संमिलन-विरह उसका कार्य है। क्योंकि हमने जहाँ जहाँ समान्तराल-भाव देखा है, वहीं देखा है कि मिलन नहीं हुआ। अतएव समान्तराल-भाव सदा संमिलन-विरहके पहले रहता है। इसी कारण हम जानते हैं कि जब जहाँ दो समान्तराल रेखायें होंगी वहीं उनका मिलन नहीं हो सकता। अतएव यह ज्ञान प्रत्यक्षमूलक है।

अन्तमें हर्बर्ट स्पेन्सरका मत है। वे भी प्रत्यक्षवादी हैं। किन्तु वे कहते हैं कि ये सब प्रत्यक्षमूलक ज्ञान हमारे अपने प्रत्यक्षसे उत्पन्न नहीं हैं। प्रत्यक्षजात संस्कार पुश्तैनी होते हैं। मेरे पूर्व पुरुषोंके जो प्रत्यक्ष-जात संस्कार थे उनका कुछ अंश मैंने पाया है। मैं उन संस्कारोंको लेकर

ही नहीं पैदा हुआ था। ऐसा होता तो तुरतका पैदा हुआ बच्चा भी संस्कार-विशिष्ट होता। किन्तु उस समय भी उन संस्कारोंका बीज मेरे शरीरमें (मन शरीरके अन्तर्गत है) था, प्रयोजनके समय वही ज्ञानके रूपमें परिणत हो गया। इस प्रकार कोम्टके मतमें जो आभ्यन्तरिक या सहज ज्ञान है, वही स्पेन्सरके मतमें पूर्वपुरुषपरम्परागत प्रत्यक्षजात ज्ञान है। यह बात इस समय अप्रामाणिक जान पड़ सकती है, किन्तु स्पेन्सरने ऐसी दक्षताके साथ इसका समर्थन किया है कि इस समय यूरोपमें यही मत प्रचलित है।*



मनुष्यत्व क्या है ?

मनुष्य इस बातको अभीतक नहीं समझ सका कि मनुष्यजन्म लेकर क्या करना होगा ? अनेक लोग ऐसे हैं जो जगतमें धर्मात्मा कहकर अपना परिचय देते हैं। वे मुखसे कहा करते हैं कि परकालके लिए पुण्यसञ्चय ही मनुष्यके इस जन्मका उद्देश्य है। किन्तु अधिकांश लोग, चाहे मुँहसे भले ही यह बात कहते हों, पर उनके कार्य इसके अनुसार नहीं होते। बहुत लोग तो परकालके अस्तित्वको ही स्वीकार नहीं करते। यद्यपि परकालका विषय सर्ववादिसम्मत है और इस बातको सब लोग स्वीकार करते हैं कि परकालके लिए पुण्यसञ्चय ही इस जन्मका उद्देश्य है, तथापि इस विषयमें विशेष मतभेद है कि पुण्य क्या है ? केवल बंगदेशमें ही एक संप्रदायके मतसे मद्यपानसे परलोक बिगड़ता है, और दूसरे संप्रदायके मतसे मद्यपान परलोकके वास्ते परम कार्य है। तथापि दोनों संप्रदायके लोग बंगाली और हिन्दू हैं। यदि सचमुच परकालके लिए पुण्यसञ्चय ही मनुष्य जन्मका प्रधान कार्य मान लिया जाय, तो अभी तक इस बातका

* बहुत लोक कोम्टके Positive Philosophy नामक दर्शन शास्त्रका नामानुवाद 'प्रत्यक्षवाद' लिखते हैं। हमारी समझमें यह भ्रम है। जिसको Empirical Philosophy कहते हैं, अर्थात् लक, मिल, ह्यूम और बेनका मत ही प्रत्यक्षवाद कहलाता है। इस प्रबन्धमें हमने इसी अर्थमें प्रत्यक्षवाद शब्दका प्रयोग किया है।

कुछ निश्चय ही नहीं हुआ कि वह पुण्य क्या है और किस प्रकार उसका उपार्जन किया जाता है।

अच्छा मान लो, यह भी निश्चित हो गया है। मान लो, ब्राह्मणभक्ति, गंगास्नान, तुलसीकी माला और हरिनामकीर्तन इत्यादि पुण्यकार्य हैं। ये ही मनुष्य-जीवनके उद्देश्य हैं। अथवा मान लो कि रविवारको काम न करना, गिरजेमें बैठकर आँखें मूँदना और खीष्टधर्मके सिवा दूसरे धर्मोंसे विद्वेष ही पुण्यकर्म है! इसको भी जाने दो। दान, दया, सत्यनिष्ठा आदिको सभी लोग पुण्यकार्य मानते हैं। किन्तु तथापि यह नहीं देख पड़ता कि दान, दया, सत्यनिष्ठा आदिको अधिक लोग अपने जीवनका उद्देश्य समझनेका अभ्यास रखते हों और उन्हें सिद्ध करते हों। अतएव इस बातको सभी लोग स्वीकार नहीं करते कि पुण्य ही जीवनका उद्देश्य है। जहाँ यह बात सर्वस्वीकृत है वहाँ वह विश्वास केवल जबानी जमा-खर्च भर है।

वास्तवमें अगर देखा जाय तो जीवनके उद्देश्यके तत्त्वकी मीमांसाको लेकर मनुष्यलोकमें इस समय भी बड़ी गड़बड़ मची हुई है। लाखों वर्ष पहले, अनन्तसमुद्रके गहरे जलके भीतर जो अणुवीक्षणसे देख पड़नेवाले जीव रहते थे उनके देहतत्त्वको लेकर तो मनुष्य विशेष व्यस्त देख पड़ते हैं; परन्तु इस बातके निर्णयकी विशेष चेष्टा नहीं देख पड़ती कि इस संसारमें उन्हें खुद क्या करना चाहिए। बहुत लोग किसी तरह अपना पेट पालकर अन्यान्य बाह्य इन्द्रियोंको चरितार्थ करके आत्मीय-स्वजनोंके भी पेट पाल सकनेको ही मनुष्यजन्मकी सफलता समझते हैं। इसके सिवा किसीतरह औरोंपर प्रधानता प्राप्त करना भी एक उद्देश्य देख पड़ता है। पेटपालनके उपरान्त, धनसे हो या किसी अन्य प्रकारसे हो, लोगोंमें यथासाध्य प्रधानता प्राप्त करनेको अपने जीवनका उद्देश्य समझकर लोग काम करते हैं। लोगोंकी समझमें यह प्रधानता प्राप्त करनेका उपाय धन, राजपद और यशकी प्राप्ति ही है। अतएव, मुखसे चाहे कोई न कहे, किन्तु कार्यके द्वारा धन, पद और यशकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका सर्ववादिसम्मत उद्देश्य जान पड़ता है। इन्हीं तीनोंके

समवायको समाजमें सम्पत्ति कहते हैं। तीनों बातोंका एकत्र होना दुर्लभ है, इसलिए दो-एक—खासकर धन—होनेसे भी उसे सम्पत्ति मान लेते हैं। इस सम्पत्तिकी आकांक्षा ही समाजमें जीवनका मुख्य उद्देश्य समझी जाती है और यही समाजके घोरतर अनिष्टका कारण भी है। समाजकी उन्नतिकी गति धीमी होनेका प्रधान कारण यही है कि धीरे धीरे बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य बनती जाती है।* केवल साधारण मनुष्योंके खयालमें नहीं, यूरोपके प्रधान पण्डितों और राजपुरुषोंके खयालमें भी यह बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य है।

शायद ही कभी कभी बीचमें ऐसा कोई संसारमें उत्पन्न हो जाता है कि वह बाह्यसम्पत्तिको मनुष्य-जीवनका उद्देश्य समझना कैसा, उसे जीवनके उद्देश्यकी सिद्धिका प्रधान विघ्न समझकर दलसे अलग हो जाता है। जिस राज्यसम्पत्तिको अन्य लोग जीवनकी सफलताकी सामग्री समझते हैं उसीको विघ्न समझकर, शाक्यसिंहने लात मार दी। भारतमें और यूरोपमें भी ऐसे मुनिवृत्तिधारी अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने बाह्य सम्पत्तिसे इतनी घृणा दिखाई है। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि इन्होंने ही असली और यथार्थ मार्गका अवलंबन किया। शाक्यसिंहने यह शिक्षा दी कि इस लोकके व्यापारोंमें मन लगाना ही अनिष्टका कारण है—मनुष्य सर्वत्यागी होकर निर्वाणकी कामना करे। भारतमें इस शिक्षाका फल विषमय हुआ है। मनुष्य-जीवनके उद्देश्यके सम्बन्धमें इस प्रकार और भी अनेक मुनि-वृत्ति महापुरुषोंकी भ्रान्त धारणा होनेके कारण वे ऐहिक सम्पत्तिके प्रति विरक्त होकर भी समाजका इष्ट करनेमें विशेष कृतकार्य नहीं हो सके। साधारणतः संन्यासी आदि सर्वदेशीय वैरागी-संप्रदायको उदाहरणके तौरपर निर्दिष्ट करनेसे ही यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जायगी।

---

* यह स्वीकार करता हूँ कि किसी परिमाणमें धनकी आकांक्षा समाजके लिए मंगलकर है। धनकी आकांक्षामात्रको ही मैं अमंगलजनक नहीं समझता; किन्तु धन मनुष्य-जीवनका उद्देश्य होना ही अमंगलकर है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि धन-संचय आदिकी तरह सुखशून्य, शुभफल-शून्य, महत्त्वशून्य कार्य प्रयोजनीय होनेपर भी कभी मनुष्य-जीवनका उद्देश्य कहकर स्वीकृत नहीं हो सकते। यह जन्म भविष्य पारलौकिक जीवनके लिए परीक्षामात्र है। पृथ्वीतल स्वर्गलाभके लिए कर्मभूमि मात्र है। यह बात यदि यथार्थ हो, तो परलोकमें सुख देनेवाले कार्यका अनुष्ठान ही जीवनका उद्देश्य होना उचित है। किन्तु पहले तो वैसे कार्य कौन हैं, इसी विषयमें मतभेद है—निश्चय करनेका बिल्कुल कोई उपाय नहीं है और दूसरे परलोकके अस्तित्वका ही कोई प्रमाण नहीं है।

तीसरे परलोकके रहने पर भी—यह पृथ्वी परीक्षा-भूमि मात्र होने पर भी—ऐहिक और पारलौकिक भलाईमें विभिन्नता होनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता। यदि परलोक है तो जिस व्यवहारसे परलोकमें भलाई होनेकी संभावना है, उसी कार्यसे इस लोकमें भी भलाई होनेकी संभावना है। इस लोकमें उसीसे भलाई होनेकी संभावना न होनेका कारण अबतक कोई बतला नहीं सका। धर्मका आचरण यदि मंगलका कारण हो तो यह बात किस तरह प्रामाणित होती है कि वह केवल परलोकमें ही मंगलप्रद है, इस लोकमें नहीं। ईश्वर स्वर्गमें बैठकर क़ाज़ीकी तरह न्याय-विचार करते हैं—पापीको नरककुंडमें डालते हैं और पुण्यात्माको स्वर्ग भेजते हैं, इन प्राचीन मनोरंजक दन्तकथाओंको प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो लोग कहते हैं कि इस लोकमें अधार्मिकको भलाई और धर्मात्माकी बुराई होते देखी जाती है, उनकी दृष्टिमें केवल धनसम्पत्ति आदि ही शुभ या भलाई है। उनका विचार इस मूलमें ही होनेवाली भ्रान्तिसे दूषित है। यदि पुण्यकर्म परलोकमें शुभप्रद है तो वह इस लोकमें भी शुभप्रद होगा। किन्तु वास्तवमें केवल पुण्यकर्म क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें, शुभप्रद नहीं हो सकता। जिस प्रकारकी मनोवृत्तिका फल पुण्यकर्म है, उसीका दोनों लोकोंमें शुभप्रद होना संभव है। यदि कोई केवल मजिस्ट्रेटसाहबकी प्रेरणाके वशीभूत होकर, या यशकी लालसासे, अप्रसन्न चित्तसे दुर्भिक्षनिवारणके लिए लाखों रुपये देता है, तो वह उससे परलोकके लिए पुण्य सञ्चय कैसे

कर सकता है ? दान पुण्यकर्म अवश्य है, किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे दानसे परलोकका कुछ उपकार होगा । किन्तु जो अर्थाभावके कारण दान नहीं कर सका, किन्तु दान न कर सकनेके कारण खिन्न है, उसका इस लोकमें और परलोक अगर हो तो वहाँ भी, सुखी होना संभव है ।

अतएव मनोवृत्तियोंके जिस अवस्थामें परिणत होनेसे पुण्यकर्म उसके फलके रूपमें आप ही निष्पन्न होता है, परलोक अगर हो तो वही परलोकमें भी शुभप्रद है, यह बात मानी जा सकती है । परलोक हो चाहे न हो, इस लोकमें वही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है । किन्तु केवल वह अवस्था ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य नहीं हो सकती । जैसे कुछ मानसिक वृत्तियोंकी चेष्टा कर्म है और जैसे उन वृत्तियोंके अच्छी तरह परिमार्जित और उन्नत होनेसे स्वभावतः शुभ कर्मके करनेकी प्रवृत्ति होती है वैसे ही और भी कुछ वृत्तियाँ हैं । उनका उद्देश्य किसी तरहका कार्य नहीं है—ज्ञान ही उनकी क्रिया है । कार्यकारिणी वृत्तियोंका अनुशीलन जैसे मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है वैसे ही ज्ञानोपार्जनकी वृत्तियोंका अनुशीलन भी जीवनका उद्देश्य होना उचित है । वास्तवमें अगर देखा जाय तो देख पड़ेगा कि सब प्रकारकी मानसिक वृत्तियोंका सम्यक् अनुशीलन, संपूर्ण स्फूर्ति, यथोचित उन्नति और विशुद्धि ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है ।

यह बात नहीं है कि ऐसे मनुष्योंने जगतमें जन्म ही न लिया हो जिन्होंने केवल इसी उद्देश्यका अवलंबन कर, सम्पत्ति आदिको उपयुक्त घृणा दिखा-कर अपना जीवन बिताया हो । ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम होनेपर भी उनके जीवनचरित मनुष्योंको अमूल्य शिक्षा दे सकते हैं । जीवनके उद्देश्यके सम्बन्धमें ऐसी शिक्षा और किसी तरह नहीं मिल सकती । नीति-शास्त्र, धर्मशास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सबकी अपेक्षा यही प्रधान शिक्षा है । दुर्भाग्यवश ऐसे लोगोंके जीवनके गूढ़तत्त्व अपरिज्ञेय हैं । केवल दो आदमी अपना जीवनचरित आप लिखकर रख गये हैं,—एक गेटे और दूसरे जॉन स्टुअर्ट मिल ।



चित्तकी शुद्धि ।

हिंदूधर्मका सारांश चित्तकी शुद्धि है । जो लोग हिन्दूधर्मपर विशेष अनुराग रखते हैं, अथवा जिन्हें हिन्दूधर्मके यथार्थ मर्मके अनुसन्धानकी इच्छा है उनसे मैं अनुरोध करता हूँ कि वे इस तत्त्वकी ओर विशेष ध्यान दें। हिन्दूधर्मके अन्तर्गत और कोई भी तत्त्व इस तत्त्वके समान मर्म-गत नहीं है । साकारकी उपासना या निराकारकी उपासना, एकेश्वरवाद या बहुत देवताओंकी भक्ति, द्वैतवाद या अद्वैतवाद, ज्ञानवाद, कर्मवाद और भक्तिवाद, सब कुछ इसके निकट तुच्छ हैं । चित्तशुद्धिके होनेसे सभी मत शुद्ध हैं और चित्तशुद्धिके बिना सभी मत अशुद्ध हैं जिसका चित्त शुद्ध नहीं है उसका कोई धर्म नहीं है। जिसका चित्त शुद्ध है उसको और किसी धर्मका प्रयोजन नहीं है । यह बात नहीं है कि चित्तशुद्धि केवल हिन्दूधर्मका ही सार हो; वह सभी धर्मोंका सारांश है । यह हिन्दू धर्मका सारांश है, ईसाई धर्मका सारांश है, मुसलमानी धर्मका सारांश है, निरीश्वर-धर्मका भी सारांश है। जिसका चित्त शुद्ध है, वह श्रेष्ठ हिन्दू, श्रेष्ठ ईसाई, श्रेष्ठ बौद्ध, श्रेष्ठ मुसलमान और श्रेष्ठ निरीश्वरवादी है । जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वह किसी धर्मके लोगोंमें धार्मिक नहीं समझा जाता । चित्तकी शुद्धि ही धर्म है और खासकर हिन्दूधर्ममें ही इसकी प्रबलता है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वह हिन्दू ही नहीं। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके सम्पूर्ण विधि-विधानके अनुसार सब काम करनेपर भी वह हिन्दू नहीं है ।

यह चित्त-शुद्धि क्या है, यह बात दो-एक लक्षणोंके द्वारा समझानेकी चेष्टा करता हूँ। चित्तशुद्धिका पहला लक्षण है इन्द्रिय-संयम। इन्द्रिय-संयमका यह अर्थ नहीं है कि सब इन्द्रियोंका एकदम विध्वंस या उच्छेद कर डालो। इसका अर्थ यही है कि इन्द्रियोंको संयत करो। उदाहरणस्वरूप पेटूपनको ले लीजिए। पेटू होना एक प्रकारकी इन्द्रियपरता है। इस इन्द्रियके संयमका यह अर्थ न समझा जायगा कि कभी खाइए नहीं, हवा खाकर रहिए, अथवा खराब भोजन कीजिए। शरीररक्षा और स्वास्थ्यरक्षाके लिए जितने और जैसे आहारकी आवश्यकता है वह अवश्य करना होगा । वैसा करनेसे इन्द्रिय-संयममें कोई व्यतिक्रम न होगा। इन्द्रिय-संयम वैसा कठिन काम

नहीं है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि जितेन्द्रिय पुरुष स्पृहा-शून्य होकर अच्छे अच्छे भोजन भी कर सकता है।* कहनेका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंमें आसक्तिका अभाव ही इन्द्रिय-संयम है। आत्मरक्षा या धर्मरक्षा अर्थात् ईश्वरीय नियमकी रक्षाके लिए जितना इन्द्रिय-भोग आवश्यक है उससे अधिक इन्द्रिय-तृप्तिकी जो अभिलाषा करता है वही इन्द्रियोंका संयम नहीं कर सकता। और, जो वैसी अभिलाषा नहीं रखता वही जितेन्द्रिय है। जिसे इन्द्रिय-परितृप्तिमें कोई सुख नहीं है, कोई आकांक्षा नहीं है, केवल धर्मरक्षाका ध्यान है, वही संयतेन्द्रिय है।

ऐसे अनेक आदमी देखे जाते हैं जो जाहिरमें इन्द्रिय-परितृप्तिसे बिल्कुल विमुख हैं, पर मनके कलुषको नहीं धो सके। वे लोकलज्जासे, लोगोंसे प्रतिपत्ति प्राप्त करनेके लिए, या ऐहिक उन्नतिके लिए, अथवा धर्मका ढोंग रचनेके लिए संयतेन्द्रिय पुरुषका सा आचरण करते हैं, पर उनके हृदयके भीतर इन्द्रिय-भोगकी लालसा बहुत ही प्रबल होती है। जन्मसे लेकर मृत्युतक कभी कुमार्गगामी न होनेपर भी वे इन्द्रिय-संयमसे बहुत दूर रहते हैं। जो लोग वारम्वार इन्द्रिय-परितृप्तिका उद्योग करके उसमें सफलता भी प्राप्त करते हैं उनमें और इन धर्मात्मा लोगोंमें बहुत ही कम भेद होता है। दोनों समान रूपसे इस लोकके नरककी आगमें जला करते हैं। इन्द्रियोंको तृप्त करो या न करो, इन्द्रिय-संयम तभी होगा जब भूल कर भी मनमें इन्द्रियपरितृप्तिका खयाल न हो—आत्मरक्षा या धर्मरक्षाके लिए इन्द्रियोंको चरितार्थ करने पर भी वह दुःखके सिवा सुख न जान पड़े। यह न होने पर कठोर योग और तपस्या सब वृथा है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए हिन्दुओंके पुराणों और इतिहासोंमें ऋषियोंके सम्बन्ध की अनेक कथायें हैं। स्वर्गसे एक अप्सरा आई और उसने एक ऋषिको तपस्यासे भ्रष्ट कर दिया। वह भी उसपर आसक्त हो गये। इन सब

---

* रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥—गीता अ० २, श्लो० ६४।

अर्थात् राग-द्वेष-हीन और अपने वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग करता हुआ विधेयात्मा पुरुष प्रसन्नता (अर्थात् चित्तशुद्धि) को प्राप्त होता है।

कथाओंसे हमें एक यह शिक्षा प्राप्त होती है कि योग या तपस्यासे इन्द्रिय-संयमकी प्राप्ति नहीं होती। कार्यक्षेत्रमें—संसारधर्ममें—ही इंद्रिय-संयम प्राप्त किया जाता है। नित्य वनमें रहकर, इन्द्रियतृप्तिकी सामग्रियोंसे दूर रहकर, सब विषयोंसे निर्लिप्त होकर यह अवश्य समझा जा सकता है कि मैंने इन्द्रियोंको वशमें कर लिया, किन्तु कच्चा घड़ा जैसे पानी लगते ही नहीं टिकता वैसे ही ऐसा कच्चा इन्द्रिय-संयम भी लोभके आते ही नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। जो नित्य इन्द्रिय-भोगोपयोगी सामग्रियोंके संसर्गमें रहता है, उनके साथ युद्ध करके कभी जीतता और कभी हारता है, वही अन्तको इन्द्रियोंको जीत सकता है। विश्वामित्र या पराशर इन्द्रियोंको नहीं जीत सके, और भीष्म या लक्ष्मणने इन्द्रियोंको जीत लिया। यह हिन्दूधर्मकी एक बहुत ही गूढ़ बात है।

किन्तु इन्द्रिय-संयम भी अपेक्षाकृत तुच्छ है। चित्तशुद्धिका उसकी भी अपेक्षा बड़ा और कठिन लक्षण है। बहुत लोग ऐसे हैं जो जितेन्द्रिय हैं, किन्तु अन्य कारणोंसे उनका चित्त शुद्ध नहीं है। उनके मनमें इन्द्रिय-सुखकी इच्छा न रहनेपर भी यह वासना बड़ी प्रबल है कि मैं अच्छा रहूँ, मेरे सब अच्छे रहें। वे ऐसी कामना करते हैं कि मुझे धन मिले, मेरा मान हो, मुझे सम्पत्ति, यश और सौभाग्य मिले, मैं बड़ा होऊँ, और सब मेरी अपेक्षा छोटे रहें। जिनके ये सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं वे सदा नित्य प्रति इसी चेष्टा और इसी उपयोगमें व्यस्त रहते हैं। ऐसा कोई काम नहीं जिसे वे इसके लिए न करें, ऐसा कोई विषय नहीं जिसमें वे इसे छोड़कर मन लगावें। इन्द्रियासक्त पुरुषोंकी अपेक्षा भी ये लोग निकृष्ट हैं। इनके निकट धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्ति कोई चीज नहीं है। ईश्वरको मानने पर भी उनके लेखे ईश्वर नहीं है, जगतके रहने पर भी उनके लेखे जगत् नहीं है। केवल वे ही हैं, उनके सिवा और कुछ नहीं है। उनका यह अपना आदर और स्वार्थपरता इन्द्रियासक्तिसे भी बढ़कर चित्तशुद्धिका विघ्न है। परोपकारका भाव आये बिना कभी चित्त-शुद्धि नहीं होती। जब यह समझेंगे कि जैसे हम हैं वैसे ही दूसरा है, जब जैसे अपने सुखको खोजेंगे वैसे ही दूसरेके सुखको भी खोजेंगे, जब अपनेसे दूसरोंको अलग न समझेंगे, जब अपनेकी

अपेक्षा भी दूसरोंको अपना समझेंगे, जब धीरे धीरे अपनेको भूल जाकर दूसरेको ही सर्वस्व जान सकेंगे, जब दूसरोंमें अपनेको लीन कर देंगे, जब हमारा आत्मा विश्वव्यापी विश्वमय हो जायगा, तभी चित्तकी शुद्धि होगी। यदि ऐसा न हुआ तो लँगोटी लगाकर, संसारको छोड़कर, भगवानका नाम लेकर द्वार-द्वारपर भीख माँगते फिरनेसे चित्तशुद्धि न होगी। पक्षान्तरमें राजसिंहासनपर हीरा पन्नाके जड़ाऊ गहने पहने बैठा हुआ राजा भी यदि एक भिक्षुक प्रजाके दुःखको अपना ही दुःख समझ सकता है, तो उसका चित्त शुद्ध समझना चाहिए। जो ऋषि विश्वामित्रको एक गऊ नहीं दे सके, उनका चित्त शुद्ध नहीं था। और, जो राजा शरणागत कबूतरके लिए अपना मांस काटकर बाजको दे सके थे उनका चित्त शुद्ध था।

परन्तु इसकी अपेक्षा भी चित्तकी शुद्धिका एक बड़ा भारी लक्षण है। जो सब शुद्धियोंकी समष्टि करनेवाले हैं, जो शुद्धिमय हैं, जिनकी कृपा, ध्यान और अनुकम्पाके बिना शुद्धि नहीं होती उनमें गाढी भक्ति ही चित्त-शुद्धिका प्रधान लक्षण है। इन्द्रियसंयम या परोपकारका भाव, उनके सम्पूर्ण स्वभावके चिन्तन और उनके प्रति गाढ़े अनुरागकें सिवा कभी नहीं प्राप्त हो सकता। यह भगवद्भक्ति भी चित्तशुद्धि और धर्मकी जड़ है।

चित्तशुद्धिके प्रथम लक्षणके सम्बन्धमें जो कहा गया है उसका स्थूल तात्पर्य है हृदयमें शान्ति। दूसरे लक्षणके सम्बन्धमें जो कहा गया है उसका स्थूल तात्पर्य है मनुष्योंके प्रति प्रीति। तीसरे लक्षणके सम्बन्धमें जो कहा गया है उसका तात्पर्य है ईश्वरकी भक्ति। अतएव चित्तशुद्धिका सम्पूर्ण लक्षण हुआ हृदयमें शान्ति, मनुष्योंके प्रति प्रीति और ईश्वरकी भक्ति। यही हिन्दूधर्मके मर्मकी बात है।

भक्ति-प्रीति-शान्तिमयी इस चित्तशुद्धिको हिन्दूशास्त्रकारोंने किस तरह समझाया है सो बतलानेके लिए उदाहरणके तौरपर श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धसे भगवान् कपिलदेवकी निम्नलिखित उक्ति यहाँपर उद्धृत की जाती है:—

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतं।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ १०॥

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ ११ ॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणान् मद्भावायोपपद्यते ॥ १२ ॥

निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥ १३ ॥

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवंदनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासंगमेन च ॥ १४ ॥

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १५ ॥

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्त्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसंगेन निरहंक्रियया तथा ॥ १६ ॥

मद्धर्म्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्त्वञ्जसाऽभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥ १७ ॥

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ १८ ॥

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ १९ ॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वाऽर्चां भजते मौढयाद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २० ॥

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥ २१ ॥

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥ २२ ॥

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २३ ॥

आत्मानश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ २४ ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ २५ ॥

—भागवत, तृतीयस्कन्ध, २९ वाँ अध्याय।

कपिलदेवजी अपनी माता देवहूतिसे कहते हैं कि पुरुषोत्तममें अकारण और अन्तररहित भक्ति ही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है ॥ १० ॥ मेरे ऐसे भक्त मेरी सेवाके लिए मेरी दी हुई सालोक्य (मेरे साथ एक लोकमें निवास), सार्ष्टि (मेरे समान एश्वय), सामीप्य (मेरे समीप रहना), सारूप्य (मेरा ऐसा रूप) और एकत्व (अर्थात् सायुज्य) आदि सब प्रकारकी मुक्तियोंको भी नहीं ग्रहण करते ॥ ११ ॥ यही आत्यन्तिक भक्तियोग है। इसके द्वारा त्रिगुणातीत होकर जीव मेरे भावको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥ इस प्रकारके भक्तियोगके साधन आगे कहे जाते हैं। अपने श्रेष्ठ निष्काम धर्मद्वारा इस भक्तिका सेवन करना, पञ्चरात्र आदिमें वर्णित प्रशस्त कर्मकाण्डके द्वारा पूजा करना, मेरी प्रतिमा आदिका दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति, वन्दना, सब प्राणियोंमें मेरे भावकी चिन्ता, धैर्य, वैराग्य, महात्माओंका सम्मान, दीनोंपर दया, आत्मतुल्य व्यक्तियोंसे मैत्री, यम अर्थात् बाहरी इन्द्रियोंका दमन, नियम अर्थात् भीतरी इन्द्रियोंका निग्रह, आध्यात्मिक विषयोंका श्रवण, मेरे नामोंका कीर्तन, सरलता, सत्सङ्ग और अहङ्कारका त्याग ॥ १३ ॥ १६ ॥ मेरे धर्मके इन गुणोंसे जिसकी चित्तशुद्धि हो गई है वह पुरुष मेरे गुणोंका श्रवण करते ही अनायास मुझे प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥ जैसे गन्ध वायुके द्वारा अनायास ही घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है वैसे ही भक्तियोगयुक्त शुद्धचित्त परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ मैं आत्मा रूपसे सदा सब प्राणियोंमें अवस्थित हूँ। तथापि कोई कोई मूढ़ पुरुष मेरी अवहेला करके प्रतिमा-पूजारूप व्यर्थकी विडम्बना करते हैं। ॥ १९ ॥ सब प्राणियोंमें अवस्थित आत्मारूप मुझ ईश्वरको छोड़ कर जो कोई मूर्खतासे प्रतिमाकी पूजा करता है, वह राखमें ही होम करता है ॥ २० ॥ पराये शरीरमें मुझसे द्वेष करनेवाले, अभिमानी, भेदभावपूर्ण

और जीवोंसे वैर बाँधनेवाले पुरुषके मनको शान्ति नहीं प्राप्त होती ॥ २१ ॥ जो व्यक्ति प्राणियोंसे बैर रखता है वह चाहे प्रतिमामें अनेक सामग्रियों और क्रियाओंसे पूजा करे तो भी मैं उसपर सन्तुष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥ अपने कर्म करता हुआ पुरुष तभी तक प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा करे, जब तक उसे अपने हृदयमें यह ज्ञान प्राप्त न हो कि मैं सब प्राणियोंमें अवस्थित हूँ ॥ २३ ॥ अपने और दूसरेमें जो कोई जरा भी भेदभावना करता है, उस भेदभाव भरे पुरुषको मृत्युसे बहुत ही घोर भय प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ अतएव पुरुषका कर्तव्य है कि वह मुझे सब प्राणियोंका अन्तर्य्यामी और सब प्राणियोंमें अवस्थित जानकर दान, मान, मैत्री और समदृष्टिके द्वारा मेरी पूजा करे ॥ २५ ॥

चित्त-शुद्धिके सम्बन्धमें हिन्दूशास्त्रोंसे इस प्रकारकी बहुतसी उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं; पर वैसा करनेकी कोई जरूरत नहीं जान पड़ती। हिन्दु-ओंको यह स्मरण रखना चाहिए कि चित्तशुद्धिके विना प्रतिमा-पूजामें कोई धर्म नहीं है। ऐसी अवस्थामें प्रतिमा-पूजा करना व्यर्थकी विडम्बना है।

मनुष्योंको सब प्रवृत्तियोंकी सम्यक् स्फूर्ति, परिणति और सामञ्जस्यके द्वारा यह चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है। भक्ति और प्रीति ये दोनों वृत्तियाँ कार्यकारिणी होती हैं। किन्तु केवल कार्यकारिणी वृत्तियोंके अनुशीलनसे धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञानोपार्जनकी वृत्तियोंके अनुशीलनके विना धर्मके स्वरू-पका ज्ञान नहीं हो सकता। चित्त-रञ्जन करनेवाली वृत्तियोंके अनुशीलनके बिना धर्मके माहात्म्य और सौन्दर्यकी सम्यक् उपलब्धि नहीं होती और चित्तशुद्धिके मार्ग साफ नहीं होते। शारीरिक वृत्तियोंके समुचित अनुशीलनके बिना धर्मानुमोदित कार्योंके उपयोगी क्षमता नहीं पैदा होती और हृदयको भी शान्ति नहीं मिलती। इस कारण सब वृत्तियोंके सम्यक् अनुशीलन और सामञ्जस्यका फल ही चित्तकी शुद्धि है।



सुशिक्षित बंगाली और बंगला भाषा ।

जो लोग बंगला भाषाके ग्रन्थों या सामयिक पत्रोंको प्रकाशित करते हैं उनका विशेष दुर्भाग्य कहना चाहिए। वे चाहे जितना यत्न करें, देशकी शिक्षितमण्डली प्रायः उनकी रचना पढ़नेसे विमुख ही रहती है। अँगरेजी पढ़े लिखे शिक्षित लोगोंने पूर्णरूपसे यह निश्चय कर लिया है कि उनके पढ़नेलायक कुछ भी बंगलाभाषामें नहीं लिखा जा सकता। उनकी समझमें बंगलाभाषाके सभी लेखक या तो विद्या-बुद्धिहीन और लेखन-चातुरीसे शून्य हैं और या अँगरेजी ग्रन्थोंका अनुवाद करनेवाले हैं। उनको विश्वास है कि जो कुछ बंगलाभाषामें लिखा जाता है वह या तो अपाठ्य होता है और या किसी अँगरेजी ग्रन्थकी छायामात्र होता है। जो कुछ अँगरेजीमें है उसे बंगलामें पढ़कर अपना अपमान करनेकी जरूरत क्या है? सहज ही काले चमड़ेके अपराधमें पकड़े जाकर हम अनेक प्रकारकी सफाई देनेकी चेष्टा करते हैं; फिर बंगला पढ़कर कबूल जवाब क्यों दें?

अँगरेजीके भक्तोंका यह हाल है। उधर संस्कृत जाननेवाले पाण्डित्याभिमानी लोगोंकी भाषापर जैसी श्रद्धा है उसके सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है। जो लोग कामकाजी आदमी हैं, उनके लिए सभी भाषायें बराबर हैं। किसी भाषाकी पुस्तक पढ़नेका उन्हें अवकाश ही नहीं है। लड़का स्कूलमें पढ़ता है, पुस्तक पढ़ने और न्यौते-बुलावेमें जानेका काम लड़केके सिर है। इसी कारण बंगला भाषाके ग्रन्थ और पत्र आदि इस समय केवल नार्मल स्कूलके छात्रों, देहाती पाठशालाओंके पण्डितों, नाबालिग कुल-कन्याओं और किसी बेकार रसिक पुरुषके निकट ही आदर पाते हैं। शायद ही दो-एक शिक्षित सदाशय महात्मा किसी बंगलाके ग्रन्थकी भूमिका या विज्ञापन पढ़ लेते हैं, और इतनेहीमें विद्योत्साही कहकर प्रसिद्ध हो जाते हैं।

लिखने-पढ़नेकी कौन कहे, इस समयकी नई पौधके लोग बँगलामें कोई काम ही नहीं करते। वे विद्याकी आलोचना अँगरेजीमें करते हैं। सर्व साधारणके कार्य, मीटिंग, लेक्चर, एड्रेस, प्रोसीडिंग्स आदि सब अँगरेजीमें

होते हैं। अगर दोनों आदमी अँगरेजी जानते हैं तो बातचीत भी अँगरेजीमें की जाती है। कभी सोलहों आने अँगरेजीमें, और कभी बारह आने अँगरेजीमें बातचीत होती है। बातचीत चाहे जिस भाषामें हो, लेकिन चिट्ठीपत्री कभी बंगलामें नहीं होती। हमने अबतक कभी यह नहीं देखा कि कुछ भी अँगरेजी जाननेवाले दो आदमी बंगलामें चिट्ठीपत्री लिखते हों। हमें अब भी यह आशा है कि विशेषरूपसे दुर्गापूजाके मन्त्र आदि भी अँगरेजीमें (तर्जुमा करके) ही पढ़े जायँगे!

इसमें विस्मयकी बात कुछ भी नहीं है। एक तो अँगरेजी राजभाषा है— धन कमानेकी भाषा है, दूसरे उसमें बहुतसी विद्याओंका समावेश है, वही ज्ञानोपार्जनका द्वार है। बंगालियोंने उसे लड़कपनसे पढ़कर दूसरी मातृभाषाका स्थान दे रक्खा है। खासकर अँगरेजीके इस बहुल प्रचारका कारण यही है कि अँगरेजीमें अपना वक्तव्य कहे बिना उसे अँगरेज नहीं समझते। अँगरेजोंके समझे बिना मान-मर्यादा नहीं होती। अँगरेजोंमें मान न मिला तो और लोगोंसे मान मिलना या न मिलना बराबर है। अँगरेजोंने जिसे नहीं सुना वह जंगलमें रोनेके समान है, अँगरेजोंने जिसे नहीं देखा वह राखमें होम करनेके समान निष्फल है।

हम अँगरेजी या अँगरेजोंके द्रोही नहीं है। हमारा भी यह मत है कि अँगरेजोंसे इस देशका जितना उपकार हुआ है उसमें अँगरेजीकी शिक्षाका प्रचार ही प्रधान है। अनन्तरत्नप्रवसिनी अँगरेजी भाषाका जितना अनुशीलन हो उतना ही अच्छा है। हमारी यह भी सम्मति है कि समाजकी भलाईके लिए कुछ एक सामाजिक कार्योंका राजभाषामें ही सम्पन्न होना आवश्यक है। हमारी बहुतसी ऐसी बातें हैं जिन्हें हमें राजपुरुषोंको समझाना होगा। वे सब बातें अँगरेजीमें ही कहनी पड़ेंगी। ऐसी बहुतसी बातें हैं जो केवल बंगालियोंके लिए ही नहीं हैं, सारे भारतवर्षको वे बातें सुनानी पड़ेंगी। उन सब बातोंको अँगरेजीमें कहे बिना सारा भारत नहीं समझ सकता। भारतकी अनेक जातियोंका मत सलाह और उद्योग जब तक एक न होगा, तबतक भारतकी उन्नति नहीं हो सकती। यह मत, सलाह और उद्योगकी एकता केवल अँगरेजीके ही द्वारा हो सकती है। क्यों कि इस समय संस्कृत

भाषा लुप्तप्राय हो गई है। बंगाली, मराठे, तैलंग, पंजाबी आदि सबकी साधारण मिलन-भूमि अँगरेजी भाषा है। इसी सूत्रमें भारतकी गाँठ दृढ़ बाँधी जा सकेगी। (इस समय कांग्रेसके द्वारा यह कार्य बहुत कुछ हो रहा है।) इस कारण जितना अँगरेजीका व्यवहार है उतना होता रहे। किन्तु एकदम अँगरेज बननेसे काम नहीं चल सकता। बंगाली कभी अँगरेज नहीं हो सकते। बंगालियोंकी अपेक्षा अँगरेजोंमें अनेक गुण हैं और वे बहुत कुछ सुखी हैं। अगर ये तीन करोड़ बंगाली एकाएक तीन करोड़ अँगरेज बन जा सकते तो कुछ बुरा न था। किन्तु इसकी कुछ भी संभावना नहीं है। हम चाहे जितना अँगरेजी पढ़ें, अँगरेजीमें बातचीत करें और अँगरेजीमें लिखें, लेकिन वह सियारके सिंहकी खाल ओढ़नेके सिवा और कुछ न होगा। जब हम बोलेंगे, तब हमारी असलियत छिपी नहीं रह सकती। पाँच सात हजार नकली साहबोंके सिवा शेष तीन करोड़ लोग अँगरेज कभी नहीं बन सकेंगे। गिलटसे खालिस पीतल अच्छी। पत्थरकी बनी सुन्दर स्त्रीमूर्तिकी अपेक्षा कुरूप जंगली स्त्री गुजरके लिए अच्छी। नकली साहब बननेकी अपेक्षा खालिस बंगाली होना कहीं अच्छा है। अँगरेजी लिखने और पढ़नेवाले सम्प्रदायसे नकली साहबोंके सिवा खालिस बंगाली पैदा होनेकी संभावना नहीं है। जबतक सुशिक्षित और ज्ञानसम्पन्न बंगाली बंगला भाषामें अपने विचारोंको नहीं प्रकट करेंगे, तब तक बंगाली जातिकी उन्नति नहीं हो सकती।

मालूम नहीं, बंगाली लोग इस बातको क्यों नहीं समझते। जो बात अँगरेजीमें लिखी जाती है उसे कितने बंगाली समझ सकते हैं? वह बात अगर बंगलामें लिखी जाय तो कौन बंगाली उसे न समझ सकेगा? अगर कोई यह समझे कि सुशिक्षितोंकी बातें समझना केवल सुशिक्षितोंके लिए ही आवश्यक है, तो वह भारी भ्रममें पड़ा हुआ है। सब बंगालियोंकी उन्नति हुए बिना देशकी कुछ भी भलाई नहीं हो सकती। देशके सब लोग अँगरेजी नहीं समझते, और उनके कभी समझनेकी आशा भी नहीं की जा सकती अतएव यह निर्विवाद है कि जो बात बंगलामें नहीं कही जायगी उसे तीन करोड़ बंगाली कभी सुन या समझ नहीं सकते। इस समय भी नहीं सुनते और आगे भी कभी नहीं सुन सकते। जिस बातको देशके सब लोग नहीं सुनते या समझते, उससे समाजकी कोई विशेष उन्नति नहीं हो सकती

इस समय एक बात यह उठी है कि केवल उच्च श्रेणीके लोगोंके सुशिक्षित होनेकी जरूरत है, निम्न श्रेणीके लोगोंको अलग शिक्षा देनेकी जरूरत नहीं है। वे आप ही उच्च श्रेणीके द्वारा विद्वान् हो उठेंगे । जैसे किसी सोखनेवाले पदार्थके ऊपर पानी डालनेसे उसके नीचेकी तहतक भीग जाती है, वैसे ही बंगालीजातिरूप शोषक पदार्थकी ऊपरकी तहपर विद्यारूप जल डालनेसे उसकी नीचेकी तह—अर्थात् निम्नश्रेणी—भी भीग जायगी । जलकी बात होनेसे यह उक्ति निःसन्देह कुछ सरस जान पड़ती है । अँगरेजी शिक्षाके साथ ऐसा जलयोग हुए बिना हमारे देशकी इतनी उन्नतिकी आशा कभी नहीं की जा सकती थी । जल भी असंख्य है और सोखनेवाले भी असंख्य हैं। अबतक सूखे ब्राह्मण पण्डित देशको उजाड़ रहे थे, अब नई पौधके लोग जलयोगके द्वारा देशका उद्धार करेंगे । क्योंकि उनमें छिद्र होनेके कारण निम्नश्रेणीके लोग तक सरस हो उठेंगे !

किन्तु हमें यह आशा नहीं है कि यह जलमयी विद्या यहाँतक कर सकेगी। विद्या पानी या दूध नहीं है कि ऊपर डालनेसे नीचेकी तह तक असर करेगी। केवल इतना कहा जा सकता है कि किसी जातिका एक हिस्सा पढ़ालिखा सुशिक्षित होनेसे उसके संसर्गसे अन्य अंशकी भी श्रीवृद्धि हो सकती है। किन्तु यदि जातिके दोनों हिस्सोंकी भाषामें ऐसा भेद हो कि विद्वानकी भाषाको मूर्ख न समझ सके, तो संसर्गका फल कैसे हो सकता है ?

मुख्य बात यह है कि इस समय हम लोगोंके भीतर उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणीके बीच परस्पर कुछ भी सहृदयता नहीं है । उच्चश्रेणीके सुशिक्षित लोग मूर्ख दरिद्र लोगोंके किसी दुःखसे दुखी नहीं होते । मूर्ख दरिद्र लोग धनी और सुशिक्षित लोगोंके किसी सुखसे सुखी नहीं हैं। इस समय यह परस्पर सहृदयताका अभाव ही देशोन्नतिके लिए प्रधान रुकावट है । इस सहृदयताके न होनेसे ही दोनों श्रेणियोंमें दिन दिन भारी अलगाव होता जाता है। अगर उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणीमें ऐसा अलगाव है, तो फिर संसर्गका फल क्या होगा ? जो अलग है उसके साथ संसर्ग कैसा ? अगर शक्तिशाली लोग अशक्त लोगोंके दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी न हुए, तो फिर

इनको उबारेगा कौन? और, अगर सर्वसाधारणका उद्धार न हुआ तो फिर शक्तिशाली लोगोंकी उन्नति कहाँ हुई? ऐसा तो कभी किसी देशमें नहीं हुआ कि निम्नश्रेणीके लोग सदा एक अवस्थामें रहें, और उच्चश्रेणीके लोगोंकी निरन्तर श्रीवृद्धि होती रहे। बल्कि जिस जिस समाजकी विशेष उन्नति हुई है, उस उस समाजमें दोनों श्रेणीके लोग समकक्ष, हिलेमिले और सहृदयतासम्पन्न ही देखे जाते हैं। जबतक ऐसा नहीं हुआ—जबतक दोनोंमें अन्तर बना रहा, तबतक उन्नति नहीं हो सकी। जब दोनों श्रेणियोंमें सामञ्जस्य हुआ तभीसे श्रीवृद्धिका श्रीगणेश हुआ। रोम, एथेन्स, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देश इसके उदाहरण हैं। इन देशोंके इतिहासको सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। इसके विपरीत समाजके भीतर भिन्न भिन्न श्रेणियोंमें अलगाव रहनेसे जैसा अनिष्ट होता है, उसके उदाहरण स्पार्टा, फ्रान्स, मिसर और भारतवर्ष आदि देश हैं। एथेन्स और स्पार्टा, ये दोनों प्रतियोगी नगर थे। एथेन्समें सब समान थे; स्पार्टामें एक जाति प्रभु और एक जाति दास थी। एथेन्ससे पृथ्वीकी सभ्यताकी सृष्टि हुई। जिस विद्याके प्रभावसे आधुनिक यूरोपका इतना गौरव है, उसका जन्मस्थान एथेन्स है। और, स्पार्टा कुल-क्षयके कारण विध्वंसको प्राप्त हो गया। फ्रान्समें इसी अलगावके कारण सन् १७८९ में जो भारी गदर शुरू हुआ उसका अन्त अभी तक नहीं हुआ। यद्यपि उसका अन्तिम फल भलाई है, तथापि असाधारण समाज-पीड़ाके बाद उस भलाईके लक्षण देख पड़ते हैं। हाथ-पैर काटकर रोगीको आरोग्य करनेके समान इस गदरसे समाजकी भलाई हो रही है। इस भयानक घटनाको सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। मिसरमें सर्वसाधारणके साथ धर्मयाजकोंका अलगाव रहनेके कारण असमयमें ही समाजकी उन्नतिका गला घुट गया। प्राचीन भारतमें वही काम वर्णगत अलगावने किया। वर्णगत अलगावके कारण उच्चवर्ण और नीचवर्णमें ऐसा भारी भेद पड़ गया कि वैसा भेद किसी देशमें नहीं पड़ा और वैसा अनिष्ट भी किसी देशमें नहीं हुआ। यहाँपर उस अनिष्टका विस्तृत वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस समय वर्णगत अलगाव बहुत कुछ कम हो आया है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिक्षा और सम्पत्तिके कारण दूसरे प्रकारका अलगाव दिनोंदिन बढ़ता जाता है।

उस अलगावका विशेष कारण भाषाका भेद है। सुशिक्षित बंगालियोंके हृदयके भाव साधारणतः जबतक बंगला भाषामें प्रकाशित न होंगे, तबतक उन्हें साधारण बंगाली कभी समझ न सकेंगे। वे न उनको पहचान सकेंगे और न उनके संसर्गमें आ सकेंगे, अर्थात् उनमें हेलमेल न बढ़ सकेगा। पढ़ने या सुननेवालोंके प्रति सहृदयता ही लेखक या व्याख्यानदाताका स्वाभाविक स्वयंसिद्ध गुण है। लिखने या बोलनेमें यह गुण आप ही आ जाता है। जहाँ लेखक या वक्ताको निश्चितरूपसे यह मालूम है कि उसकी जातिके साधारण लोग उसके पाठक या श्रोता नहीं हैं, वहाँ उसके साथ सर्व साधारणकी सहृदयताका अभाव आप ही हो जाता है।

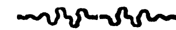
जिन कारणोंसे सुशिक्षित बंगालियोंको बंगलामें ही लिखना पढ़ना चाहिए उन्हें हमने विस्तारपूर्वक कह दिया। किन्तु रचनामें सुशिक्षित बंगालियोंके बंगला भाषाका व्यवहार करनेमें एक विशेष विघ्न है। सुशिक्षित लोग बंगला भाषाको नहीं पढ़ते। सुशिक्षित लोग जिसे नहीं पढ़ते उसे सुशिक्षित लोग लिखना नहीं चाहते।

"आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

हम सब लोगोंकी दृष्टि स्वार्थपर है। लेखकमात्रको यशकी अभिलाषा होती है। यश सुशिक्षितोंसे ही प्राप्त होता है। अन्य लोग अच्छे बुरेका विचार नहीं कर सकते। वे अगर यश भी देते हैं तो उससे रचनाका परिश्रम सार्थक नहीं जान पढ़ता। जब तक सुशिक्षित लोग नहीं पढ़ेंगे तबतक सुशिक्षित लोग नहीं लिखेंगे।

इधर किसी सुशिक्षित बंगालीसे अगर पूछा जाता है कि "महाशय, आप बंगाली होकर भी बंगलाके ग्रन्थों और पत्रोंसे इतने विमुख क्यों हैं?" तो वह उत्तर देता है कि "बंगलाके किस ग्रन्थ या पत्रका आदर करें? अगर पढ़ने लायक कुछ मिले तो हम उसे अवश्य पढ़ें।" हम मुक्तकण्ठ होकर इस बातको स्वीकार करते हैं कि इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं है। जो कुछ बंगलाके ग्रन्थ पढ़ने योग्य हैं वे दो ही तीन दिनमें पढ़ डाले जा सकते हैं। उसके बाद दो-तीन वर्ष तक प्रतीक्षा किये बिना पढ़नेके योग्य बंगलाका कोई ग्रन्थ नहीं मिल सकता।

इस प्रकार सुशिक्षितोंका बंगलाके प्रति अनादरका भाव ही बंगलाकी श्रीवृद्धि नहीं होने देता। सुशिक्षित बंगाली बंगला पढ़ते नहीं, इस कारण सुशिक्षित बंगाली बंगलामें लिखते नहीं हैं और, उधर सुशिक्षित बंगाली लिखते नहीं, इस कारण सुशिक्षित बंगाली बंगला पढ़ते नहीं। इस कारण यह आवश्यक है कि सुशिक्षित बंगाली लोग एक साथ ही बंगला लिखना आर पढ़ना शुरू करें। तभी बंगलाकी और साथ ही बंगालकी श्रीवृद्धि होगी। *



गीति-काव्य।

काव्य किसे कहते हैं, यह समझानेके लिए बहुत लोगोंने चेष्टा की है। किन्तु किसीकी चेष्टा सफल हुई है या नहीं, इसमें सन्देह है। यह स्वीकार करना होगा कि दो व्यक्तियोंने कभी एक प्रकारका अर्थ नहीं किया। किन्तु काव्यके यथार्थ लक्षणके सम्बन्धमें मतभेद रहने पर भी काव्य एक ही पदार्थ है, इसमें सन्देह नहीं। चाहे कोई समझा सके या न समझा सके, वह पदार्थ क्या है, इसका अनुभव हर एक काव्यप्रेमी एक प्रकारसे कर सकता है।

काव्यका लक्षण चाहे जो हो, हमारी समझमें बहुतसे ग्रन्थ, जिन्हें साधारणतः काव्य नहीं कहते, वे भी काव्य हैं। महाभारत और रामायण इतिहास कहकर प्रसिद्ध होनेपर भी काव्य हैं। श्रीमद्भागवत पुराण कहकर प्रसिद्ध होनेपर भी अंश-विशेषमें काव्य है। स्काटके उपन्यास हमारी समझमें उत्कृष्ट-काव्य हैं। यह कहनेकी जरूरत ही नहीं कि हम नाटकोंको काव्यके अन्तर्गत समझते हैं।

भारतवर्षीय और पाश्चात्य आलंकारिकोंने काव्यके अनेक श्रेणी-विभाग किये हैं। उनमें अनेक विभाग अनर्थक जान पड़ते हैं। उन लोगोंकी

---

* जो बातें बंकिम बाबूने बंगलाके सम्बन्धमें कही हैं वे ही सब बातें हिन्दीके बारेमें भी कही जा सकती हैं, इसी कारण यह लेख भी शामिल कर लिया गया है।—प्रकाशक।

कही हुई तीन श्रेणियाँ ले लेनेसे ही काम चल सकता है। यथा एक दृश्य-काव्य, अर्थात् नाटक आदि। दूसरे आख्यानकाव्य, अथवा महाकाव्य। रघु-वंशकी तरह वंशावलीके उपाख्यान, रामायणकी तरह व्यक्तिविशेषके चरित, माघकी तरह घटना-विशेषके विवरण—सभी इसके अन्तर्गत हैं। वासवदत्ता, कादम्बरी आदि गद्यकाव्य और आधुनिक उपन्यास इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। तीसरे खण्डकाव्य हैं।

देखा जा ा है कि इन त्रिविध काव्योंके रूपमें बहुत विषमता है। किन्तु रूपकी विषमता यथार्थ विषमता नहीं है। दृश्यकाव्य सर्वत्र साधारणतः कथोपकथनके रूपमें ही ेचित होते हैं और रंगभूमिमें उनका अभिनय हो सकता है। किन्तु यह बात नहीं है कि जो कुछ कथोपकथनके रूपमें हो और जिसका अभिनय किया जा सके, वही नाटक या उस श्रेणीका काव्य मान लिया जाय। इस देशके लोगोंकी साधारणतः ऊपर कही गई भ्रान्त धारणा है। इसीसे बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंमें कथोपकथनके रूपमें रचित असंख्य पुस्तकें नाटकके नामसे प्रकाशित होकर पढ़ी जाती हैं और उनका अभिनय भी होता है। वास्तवमें उनमेंसे अनेक पुस्तकें नाटक नहीं हैं। पाश्चात्य भाषाओंमें अनेक उत्कृष्ट काव्य हैं जो नाटककी तरह कथोपकथनके रूपमें लिखित हैं। किन्तु वास्तवमें वे नाटक नहीं हैं। 'Comus', 'Manfred', 'Faust' इस बातके उदाहरण हैं। बहुत लोग शकुन्तला और उत्तररामचरितको भी नाटक कहकर स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं अँगरेजी और ग्रीक भाषाके सिवा किसी भाषामें प्रकृत नाटक नहीं हैं। गेटे कह गये हैं कि यथार्थ नाटक होनेके लिए बातचीतका ग्रन्थन और अभिनयकी उपयोगिता अत्यन्त आवश्यक नहीं है। हमारी समझमें 'Bride of Lammermoor' को नाटक कहनेसे कुछ अन्याय न होगा। इससे जान पड़ता है कि आख्यान-काव्य भी नाटकाकारमें प्रणीत हो सकता है, अथवा गीत-परंपरामें सन्निवेशित होकर गीतिकाव्यका रूप धारण कर सकता है। बंगलाभाषामें शेषोक्त विषयके उदाहरणका अभाव नहीं है। यह भी देखा गया है कि अनेक खण्डकाव्य महाकाव्यके आकारमें रचे गये हैं। यदि किसी एक सामान्य उपाख्या-

नके सूत्रमें ग्रथित काव्यमालाको आख्यानकाव्य नाम देना उचित समझा जाय तो 'Excursion,' 'Childe Harold' को यह नाम दिया जा सकता है। किन्तु हमारी समझमें ये दोनों काव्य खण्डकाव्यके संग्रह मात्र हैं।

खण्डकाव्यके भीतर हमने अनेक प्रकारके काव्योंको स्थान दिया है। उनमेंसे एक प्रकारका काव्य प्रधानता प्राप्त करके यूरोपमें गीतिकाव्य (Lyric) के नामसे प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रबन्धमें हम उसी श्रेणीके काव्यकी बात कहना चाहते हैं।

यूरोपमें किसी वस्तुको एक अलग नाम प्राप्त होनेसे हमारे देशमें भी उसका एक अलग नाम रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जहाँ वस्तुमें कोई विभिन्नता नहीं है वहाँ नामकी विभिन्नता अनर्थक और अनिष्टजनक है। किन्तु जहाँ वस्तुयें जुदी जुदी हैं वहाँ नाम भी अलग होना आवश्यक है। यदि ऐसी कोई वस्तु हो कि उसके लिए गीति-काव्य नाम धारण करना आवश्यक हो, तो अवश्य यूरोपके निकट हमको ऋणी होना पड़ेगा।

गीत मनुष्यके लिए एक स्वाभाविक वस्तु है। बातसे केवल मनका भाव व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु स्वरके ढंगसे वह स्पष्ट होता है। 'आह' यह शब्द स्वरके ढंगके अनुसार दुःखबोधक हो सकता है, विरक्ति-वाचक हो सकता है और व्यंग्योक्ति भी हो सकता है। 'तुम्हें देखे बिना मेरे प्राण जाने लगे' यह कहनेसे दुःख प्रकट किया जासकेगा; परन्तु यही उपयुक्त स्वरभंगीके साथ बोलनेसे सौगुणा दुःख प्रकट होगा। इसी स्वर-वैचित्र्यका परिणाम संगीत है। अतएव मनका वेग प्रकाशित करनेके आग्रहकी अधिकतासे मनुष्य सङ्गीत-प्रिय है और उसकी साधनामें आपहीसे यत्नशील है।

किन्तु अर्थयुक्त वाक्यके बिना चित्तका भाव व्यक्त नहीं होता। अतएव संगीतके साथ वाक्यका संयोग आवश्यक है। इसी संयोगसे उत्पन्न पदको गीत कहते हैं।

गीतके लिए वाक्य-विन्यास करनेसे देखा जाता है कि किसी नियमके अधीन वाक्य-विन्यास करनेसे ही गीतकी रचना सुडौल हो जाती है और उन्हीं नियमोंके ज्ञानसे छन्दोंकी सृष्टि हुई है।

गीतके सुडौल होनेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है। स्वर-चातुरी और शब्द-चातुरी। इन दोनोंकी अलग अलग क्षमता होती है। दोनों क्षमतायें एक ही मनुष्यमें अकसर नहीं देखी जातीं। सुकवि और सुगायक होना हरएकको नसीब नहीं होता।

इसी कारण एक आदमी गीतकी रचना करता है और दूसरा गाता है। इस प्रकार गीतसे गीति-काव्य अलग हो जाता है। गीत होना ही गीति-काव्यका आदिम उद्देश्य है। किन्तु जब देखा गया कि गीत न होनेसे भी केवल पद्यरचना ही आनन्ददायक है और सम्पूर्ण रूपसे मनोभावको व्यक्त कर सकती है, तब गीतके उद्देश्यपर ध्यान न देकर अनेक गीतिकाव्योंकी रचना होने लगी।

अतएव गीतका उद्देश्य ही जिस काव्यका उद्देश्य है वही गीति-काव्य है। वक्ताके भावोच्छ्वासको व्यक्त करना ही जिसका उद्देश्य है वही काव्य गीति-काव्य है।

जब हृदय किसी विशेष भावसे आच्छन्न होता है, वह स्नेह, शोक, भय आदिमेंसे चाहे जो हो, तब उस भावका संपूर्ण अंश कभी व्यक्त नहीं होता। कुछ व्यक्त होता है और कुछ नहीं व्यक्त होता। जो व्यक्त होता है वह बातचीत और क्रियाके द्वारा। वही बातचीत और क्रिया नाटककारकी सामग्री है। जो उसमें अव्यक्त रहता है वही गीतिकाव्य रचनेवालेकी सामग्री है। जो साधारणतः नहीं देख पड़ता, अदर्शनीय और अन्यके अनुमानमें भी आनेवाला नहीं है, अर्थात् भावयुक्त मनुष्यके रुद्ध हृदयमें उच्छ्वसित है उसीको व्यक्त करना गीति-काव्य-लेखकका काम है। महाकाव्यका विशेष गुण यह है कि कविको दोनों तरहके अधिकार रहते हैं, वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों उसके अधीन होते हैं। महाकाव्य, नाटक और गीति-काव्य, इन तीनोंमें यही एक प्रधान प्रभेद जान पड़ता है। अनेक नाटककार इस भेदको नहीं जानते और इसीसे उनकी नायिका और नायकके चरित्र अप्राकृत और बहुतसे वागाडम्बरसे परिपूर्ण हो जाते हैं। सत्य है कि गीति-काव्य-लेखकको भी वाक्यके द्वारा ही रसकी उद्भावना करनी

होती है और नाटककारका भी वही वाक्य सहाय है; किन्तु जो वाक्य वक्तव्य है उसीको नाटककार पात्रके मुखसे कहला सकता है। जो अवक्तव्य है उसपर गीतिकाव्यकारका ही अधिकार है।

उदाहरणके बिना इस बातको बहुत लोग समझ न सकेंगे। सीता-विसर्जनके समय और उसके बाद भवभूतिके नाटक और वाल्मीकिकी रामायणमें जो रामके व्यवहारका तारतम्य देखा जाता है, उसकी आलोचना करनेसे यह बात समझमें आजायगी। रामके चित्तमें जिस समय जिस भावका उदय हुआ, उसे उसी क्षण भवभूतिकी लेखनीने लिख डाला। उन्होंने अपने नाटकमें वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों तरहकी बातोंका समावेश किया है। उन्होंने ऐसा करके नाटककारके योग्य काम नहीं किया, वे गीति-काव्यकारके अधिकारमें हस्तक्षेप करने चले हैं। किन्तु वाल्मीकिने वैसा न करके केवल रामके कार्योंका ही वर्णन किया है और उन कार्योंके सम्पादनके लिए जितना भाव व्यक्त करनेकी आवश्यकता थी उतना ही भाव व्यक्त किया है। भवभूतिरचित नाटकमें वर्णित रामविलापके साथ शेक्सपियरके 'उथेलो' नाटकमें डेस्डिमोना-वधके उपरान्त उथेलोके विलापकी विशेषरूपसे तुलना करके देखनेसे भी यह बात समझमें आजायगी। शेक्सपियरने उस समय उथेलोके मुखसे ऐसी कोई बात नहीं कहलाई, तत्कालीन कार्यके लिए या अन्यकी बातके उत्तरमें, जिसके व्यक्त करनेका प्रयोजन न था। वक्तव्यसे वे चावल भर भी आगे नहीं बढ़े। शेक्सपियरने भवभूतिकी तरह नायकके हृदयका अनुसन्धान करके उसके भीतरसे एक एक भावको खींचकर, एक एक गिनकर, कतारकी कतार सजाकर पाठकोंके आगे खड़ा नहीं कर दिया; तथापि यह कौन कह सकता है कि भवभूतिने रामके मुखसे जो दुःख व्यक्त किया है, उससे हजारगुना दुःख शेक्सपियरने उथेलोके मुखसे नहीं व्यक्त कराया?

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जो वक्तव्य है वह दूसरेसे सम्बन्ध रखता है या किसी कार्यके लिए होता है और जो अवक्तव्य है वह अपने चित्तसे सम्बन्ध रखता है—उसका उद्देश्य केवल कह डालना भर है। ऐसी बात नाटकमें होनी ही न चाहिए—यह मैं नहीं कहता।

बल्कि कभी कभी तो इसका होना आवश्यक होता है। किन्तु यह कभी नाटकका उद्देश्य नहीं हो सकता। नाटकके उद्देश्यके अनुकूल होनेपर प्रयोजनके अनुसार कहीं कहीं इसका भी सन्निवेश होता है।



प्रकृत और अतिप्रकृत।

काव्यरसकी सामग्री मनुष्यका हृदय है। जो मनुष्यके हृदयका अंश अथवा उसका सञ्चालक है उसके सिवा और कुछ भी उसके कामके लायक नहीं है। किन्तु कभी कभी महाकवि लोग अमानुषिक अलौकिक वस्तुका भी वर्णन करने बैठे हैं। उनमेंसे अधिकांश वर्णन नरचरित्रके चित्रके साथी भर हैं। महाभारत, इलियड आदि प्राचीन काव्य इसी प्रकार लौकिक नायक नायिकाओंके चित्रके साथी अलौकिक देवचरित्रोंके वर्णनसे परिपूर्ण हैं। देवचरित्रके वर्णनमें रस-हानिका विशेष कारण यह है कि जो कुछ मनुष्य चरित्रके अन्तर्गत नहीं, उसके साथ मनुष्य-लेखक या मनुष्य-पाठकका मन मेल ही नहीं खा सकता। अगर हम कहीं पढ़ें कि कोई मनुष्य यमुनाके एक गहरे पानीसे भरे कुण्डमें डूब गया है और अजगर सर्पने उसपर आक्रमण किया है, तो हमारे मनमें भयका सञ्चार होगा। हमारा जाना हुआ है कि ऐसी विपत्तिमें पड़े हुए मनुष्यके मरनेकी ही संभावना है। अतएव उसकी मृत्युकी आशंकासे हम डरते और दुःखित होते हैं—कविके वाञ्छित रसकी अवतारणा होती है, उसका यत्न सफल होता है। किन्तु यदि हम पहलेसे ही जानते हों कि डूबा हुआ मनुष्य वास्तवमें मनुष्य नहीं—देवता है, वह जल या सर्पकी शक्तिके अधीन नहीं है, इच्छामय और सर्वशक्तिमान् है, तब फिर हमें भय या कुतूहल नहीं होता। क्यों कि हम पहलेसे ही जानते हैं कि यह अजेय अविनश्वर पुरुष अभी कालिय-दमन करके जलसे निकल आवेगा।

ऐसी अवस्थामें भी जो पहलेके कविगण देवचरित्र या अमानुषिक चरित्रकी सृष्टि करके लोकरञ्जनमें समर्थ हुए हैं, उसका एक विशेष कारण है।

उन्होंने देवचरित्रको मनुष्यचरित्रके अनुकरणपर वर्णन किया है, इसी कारण उनके पढ़ने सुननेमें पाठकों और श्रोताओंकी सहृदयता बनी रहती है। मनुष्य जैसे राग-द्वेष आदिके वशीभूत हैं, जैसे सुखोंकी अभिलाषा करते हैं, दुःखको अप्रिय समझते हैं, आशाओंपर जैसे लुब्ध रहते हैं, सौन्दर्यपर मुग्ध होते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, वैसे ही पूर्व कवियोंके वर्णित मनुष्य-प्रकृति देवता भी हैं। श्रीकृष्णचन्द्र, जगदीश्वरके अंशावतार या पूर्णावतार माने जानेपर भी, मनुष्यकी तरह मनुष्यधर्मावलम्बी हैं। मानव-चरित्रगत ऐसी कोई उत्कृष्ट मनोवृत्ति नहीं है, जिसे भागवतके लेखकने कृष्णचरित्रमें अंकित न किया हो। इस मानुषिक चरित्रके साथ अमानुषिक बल और बुद्धिका संयोग होनेसे चित्रकी मनोहरता और भी बढ़ गई है। क्योंकि कविने उसमें मानुषिक बल-बुद्धिकी सुन्दरताके चरम उत्कर्षकी सृष्टि की है। काव्यमें अतिप्रकृतको स्थान देनेका उद्देश्य और उपकार यही है कि वे प्रकृतके नियम ही कविकी अतिप्रकृत सृष्टिके नियामक होते हैं। ऐसा ही होना उचित भी है।

एक संस्कृतमें और एक अँगरेजीमें ऐसा ही महाकाव्य है कि देवचरित्र और अतिप्रकृतचरित्र उसके आनुषंगिक नहीं, मूल विषय हैं। संस्कृतका काव्य 'कुमारसम्भव' और अँगरेजीका 'Paradise Lost' है। मिल्टनने Paradise Lost में देवप्रकृति ईश्वरविद्रोही शैतानको अनुचरवर्गसहित नायक बनाया है। जगदीश्वरके साथ उसके विरोध और जगदीश्वर तथा उसके अनुचरोंके साथ उसके युद्धका वर्णन है। मिल्टनने किसी भी पक्षको पूर्णरूपसे मनुष्यप्रकृतिविशिष्ट नहीं दिखलाया। अतएव वे काव्यरसकी अति उत्कृष्ट अवतारणामें कृतकार्य होकर भी लोगोंके मनोरंजनमें वैसी सफलता नहीं प्राप्त कर सके। Paradise Lost अति उत्कृष्ट महाकाव्य होनेपर भी, प्रायः कोई उसे आदिसे अन्ततक नहीं पढ़ता। उसको इस तरह पढ़नेमें जी ऊब उठता है। मिल्टन ऐसे प्रथम श्रेणीके कविकी रचना न होकर अगर यह मध्यम श्रेणीके किसी कविकी रचना होती, तो शायद कोई भी इसे न पढ़ता। इसका कारण यही है कि मनुष्य-चरित्रसे भिन्न देवचरित्रके पढ़नेमें मनुष्यका मन नहीं लगता। इस काव्यमें

जहाँ आदम और ईश्वरकी कथा है, वही स्थान अधिकतर सुखदायक है। किन्तु ये काव्यके प्रकृत नायक-नायिका नहीं हैं—इनका उल्लेख आनुषंगिक है। आदम और ईश्वर प्रकृत मनुष्य-प्रकृति थे। वे आदिम मनुष्य, पार्थिव सुख-दुःखसे मुक्त निष्पाप थे। जिन शिक्षाओंके गुणसे मनुष्य मनुष्य होता है, उनमेंसे कोई शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। अतएव यह कहना ठीक है कि इस काव्यमें प्रकृत मनुष्यचरित्रका वर्णन ही नहीं किया गया।

कुमारसंभवका कोई पात्र मनुष्य नहीं है। जो प्रधान नायक हैं वे स्वयं परमेश्वर हैं। नायिका परमेश्वरी हैं। इनके सिवा पर्वतराज, उनकी स्त्री, ऋषि, ब्रह्मा, इन्द्र, रति, काम आदि सब देव देवी हैं। वास्तवमें इस काव्यका तात्पर्य बहुत गूढ़ है। संसारमें दो संप्रदायके लोग सदा परस्पर झगड़ा करते हैं। एक इन्द्रियपरायण, ऐहिक सुखमात्रके अभिलाषी, परलोककी चिन्ता न करनेवाले और दूसरे विषयोंसे विरक्त, सांसारिक सुख-मात्रके विद्वेषी, ईश्वरचिन्तामें मग्न। एक संप्रदाय केवल शारीरिक सुखको सारांश समझता है और दूसरा संप्रदाय शारीरिक सुखके साथ अनुचित द्वेष रखता है। वास्तवमें देखा जाय तो दोनों संप्रदायोंके लोगोंकी भ्रान्त धारणा है। जो ईश्वरवादी हैं उन्हें ईश्वरकी दी हुई इन्द्रियोंको अमंगलकर या अश्रद्धेय समझना अनुचित है। शारीरिक भोगकी अधिकता ही दूषणीय है। परिमित शारीरिक सुख तो संसारके नियमोंकी और संसारकी रक्षाका कारण है। वह ईश्वरका आदेश और धर्मको पूर्ण करनेवाला है। शारीरिक और पार-लौकिक सुखके परिणयके गीत गाना ही कुमारसंभव काव्यका उद्देश्य है। पार्थिव पर्वतसे उत्पन्न उमा ही 'शरीर' का रूप हैं और तपस्वी महादेव पार-लौकिक शान्तिकी प्रतिमा हैं। शान्ति पानेकी आकांक्षामें उमाने पहले काम-देवकी सहायता की, किन्तु उपाय निष्फल हुआ। इन्द्रिय-सेवाके द्वारा शान्ति नहीं प्राप्त होती। अन्तको अपने चित्तको शुद्ध कर इन्द्रियासक्तिरूप मलको चित्तसे दूर करके जब उमाने शान्तिमें मन लगाया तब उन्हें शान्ति प्राप्त हो गई। सांसारिक सुखके लिए चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है। चित्त-शुद्धि रहनेसे ऐहिक और पारलौकिकमें परस्पर विरोध नहीं होता, दोनों परस्पर एक दूसरेकी सहायता करते हैं।

इसी प्रकार मनोवृत्तियोंको लेकर कविने नायक-नायिका बना कर लोगोंकी प्रीतिके लिए लौकिक देवताओंके नामसे उनका परिचय दिया है। किन्तु देवचरित्रके प्रणयनमें कालिदासने मिल्टनकी अपेक्षा अधिक कौशल दिखाया है। कवित्वके हिसाबसे Paradise Lost की अपेक्षा कुमारसंभवका दर्जा बहुत ऊँचा है। हमारी समझमें कुमारसंभवके तृतीय-सर्गकी कविताकी बराबरी करनेवाली कविता किसी और भाषाके किसी महाकाव्यमें नहीं है। किन्तु कवित्वकी बात छोड़ देनेपर केवल कौशलके लिए भी मिल्टनकी अपेक्षा कालिदास अधिक प्रशंसाके पात्र हैं। Paradise Lost पढ़नेमें श्रम जान पड़ता है और कुमारसंभवको आदिसे अन्ततक वारंवार पढ़नेसे भी तृप्ति नहीं होती। इसका कारण यही है कि कालिदासने देवचरित्रको मनुष्यचरित्रके साँचेमें ढालकर उसमें अमित माधुर्य भर दिया है। उमा आदिसे अन्ततक मानवी हैं, कहींपर तिलभर भी उनम देवभाव नहीं झलकता। उनकी माता मेना मानवी माताके समान हैं। 'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवम्' इत्यादि श्लोकार्धके साथ माण्टेगूकी कही 'Like the bud bit by an envious worm' इस उपमाकी तुलना कीजिए। देखिएगा, उमाकी माता और रोमियोके पिता एक ही प्रकृतिके—सर्वथा मनुष्य हैं। मेना पत्थरके पहाड़की स्त्री हैं, पर उनका हृदय कुलकामिनियोंके समान कुसुम-सुकुमार है।

इसलिए अतिप्रकृत जबतक प्रकृतके अनुकरणपर न होगा, तबतक वह उपयोगी नहीं हो सकता।



आर्यजातिका सूक्ष्म शिल्प ।

कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि इस संसारमें सुख नहीं है, वनमें चलो, भोग समाप्त करके मुक्ति या निर्वाण प्राप्त करो। और कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि संसार सुखमय है, वञ्चकोंकी वञ्चनापर ध्यान न देकर खाओ, पीओ, सोओ। जो लोग सुखके अभिलाषी हैं उनमें भी अनेक मत हैं। कोई कहता है धनमें सुख है, कोई कहता है मनमें सुख है। कोई धर्ममें सुख और कोई अधर्ममें सुख मानता है। किसीको कार्यमें सुख है, किसीको ज्ञानमें सुख है। किन्तु ऐसा मनुष्य एक भी नहीं देख पड़ता जो सौन्दर्यमें सुख न मानता हो। संसारमें सब सुन्दरी स्त्रीकी कामना करते हैं, सुन्दरी कन्याका मुख देखकर प्रसन्न होते हैं, सुन्दर बालककी ओर देखकर विमुग्ध होते हैं, सुन्दर बहूके लिए बड़ी कोशिश करते हैं, सुन्दर फूल चुनकर अपने पास रखते हैं। घोर परिश्रम करके जो धन पैदा करते हैं, उसे खर्च करके सुन्दर घर बनवाते हैं और उसमें सुन्दर सामान रखते हैं—इसके लिए ऋणी भी हो जाते हैं। सर्वथा सुन्दर सजधजसे आप सुन्दर बनना चाहते हैं। चिड़ियातक सुन्दर देखकर पालते हैं, सुन्दर वृक्षोंसे सुन्दर बाग लगाते हैं। सुन्दर मुखकी सुन्दर हँसी देखनेके लिए सुन्दर स्वर्ण और रत्नके आभूषण सुन्दरीको पहनाते हैं। सभी नित्य सौन्दर्य-की तृष्णामें चूर रहते हैं। किन्तु कभी किसीने इधर अधिक ध्यान न दिया होगा, इसीसे ये बातें यहाँपर इतने विस्तारसे कही गई हैं।

यह सौन्दर्य-तृष्णा जैसी प्रबल है वैसी ही प्रशंसनीय और परिपोषणीय भी है। मनुष्यके जितने सुख हैं उनमें यही सुख सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले तो यह पवित्र, निर्मल और पापके संसर्गसे शून्य है। सौन्दर्यका उपभोग केवल मानसिक सुख है—इन्द्रियसुखके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह सच है कि अकसर सुन्दर वस्तुका इन्द्रिय-तृप्तिके साथ सम्बध होता है; किन्तु सौन्दर्यसे उत्पन्न सुख इन्दियतृप्तिसे भिन्न है। रत्नजटित सोनेके गिलास या कटोरीमें जल पीनेसे जिस तरह तुम्हारी प्यास जाती रहेगी, उसी तरह भद्दे बने हुए मिट्टीके कुल्हड़ेमें जल पीनेसे भी

तुम्हारी प्यास मिट जायगी। स्वर्णपात्रमें जल पीनेका जो अतिरिक्त सुख मिलता है वह सौन्दर्य-जनित मानसिक सुख है। अपने स्वर्णपात्रमें जल पीनेके अहंकारका सुख उसके साथ मिला हुआ अवश्य होता है, किन्तु पराये स्वर्णपात्रमें जल पीनेपर प्यास मिटनेसे अलग जो सुख मिलता है, वह केवल सौन्दर्यजनित है, यह बात माननी ही पड़ेगी। दूसरे यह सुख सब सुखोंसे बढ़कर तीव्र होता है। जिन्हें प्राकृतिक शोभा देखना पसन्द है या जो काव्यामोदी हैं, वे इसके अनेक उदाहरणोंको खोज ले सकते हैं। सौन्दर्यके उपभोगका सुख अकसर इतना तीव्र होता है कि असह्य हो उठता है। तीसरे अन्यान्य सुख बारबार भोगनेसे अरुचिकर हो जाते हैं, किन्तु सौन्दर्यजनित सुख सदा नया, सदा प्रसन्नता देनेवाला बना रहता है।

अतएव जो लोग मनुष्यजातिका यह सुख बढ़ाते हैं, उन्हें मनुष्यजातिका उपकार करनेवालोंमें सर्वोच्च पद मिलना चाहिए। यह सच है कि जो भिक्षुक खंजरी बजाकर, भजन गाकर, मुट्ठीभर भीख पाकर चला जाता है, उसे कोई मनुष्यजातिका बड़ा उपकार करनेवाला न मानेगा। किन्तु जो वाल्मीकि चिरकालके लिए कोटि कोटि मनुष्योंके अक्षय सुख और चित्तके उत्कर्षका उपाय कर गये हैं, वे यशके मन्दिरमें न्यूटन, हार्वी, वाट या जेनरके नीचे स्थान पानेके योग्य नहीं हैं। बहुत लोग लेकी, मेकाले आदि असारग्राही लेखकोंके अनुवर्ती होकर कविकी अपेक्षा जूते बनानेवालेको उपकारी कहकर ऊँचे आसनपर बिठाते हैं; पर इस मूर्खदलमें कुछ आधुनिक अर्धशिक्षित बाबू लोग ही अग्रगण्य हैं। उधर विलायतमें राजपुरुषचूडामणि ग्लाडस्टन, स्काटलेंडके मनुष्योंमें ह्यूम, स्मिथ, हण्टर, कार्लाइल आदिके रहते भी वाल्टर स्काटको सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

जैसे मनुष्यके अन्यान्य अभावोंकी पूर्तिके लिए एक एक शिल्पविद्या है, वैसे ही सौन्दर्यकी आकांक्षा पूर्ण करनेके लिए भी विद्या है। सौन्दर्य उत्पन्न करनेके विविध उपाय हैं। उपायोंके भेदके अनुसार उस विद्याने भिन्न भिन्न रूप धारण किये हैं।

हम जिन सुन्दर वस्तुओंको देखते हैं, उनमेंसे कुछ एकके केवल वर्ण ही है, और कुछ नहीं है—जैसे आकाश।

और कुछ एकके वर्णके सिवा आकार भी है—जैसे पुष्प।

कुछ एकके वर्ण और आकारके सिवा गति भी है—जैसे नाग।

कुछ एकके वर्ण, आकार और गतिके सिवा शब्द भी है—जैसे कोकिला

मनुष्यके वर्ण, आकार, गति और शब्दके सिवा अर्थयुक्त वाक्य भी है।

अतएव सौन्दर्य उत्पन्न करनेकी ये ही कई एक सामग्रियाँ हैं—वर्ण, आकार, गति, शब्द और अर्थयुक्त वाक्य।

जिस सौन्दर्यजननी विद्याका आधार वणमात्र है, उसको चित्रविद्या कहते हैं।

जिस विद्याका अवलंबन आकार है, वह दो प्रकारकी है। जड़के आकारका सौन्दर्य जिस विद्याका उद्देश्य है उसको स्थापत्य कहते हैं। चेतन या उद्भिजका सौन्दर्य जिस विद्याका उद्देश्य है उसे भास्कर्य कहते हैं।

जिस सौन्दर्यजननी विद्याकी सिद्धि गतिके द्वारा होती है, उसको नृत्य कहते हैं।

शब्द जिस विद्याका अवलम्बन है उसे संगीत कहते हैं।

वाक्य जिसका अवलम्बन है उसे काव्य कहते हैं। काव्य, संगीत, नृत्य, भास्कर्य, स्थापत्य और चित्र—ये छः सौन्दर्यजननी विद्यायें हैं। इन विद्याओंका जो जातिवाचक नाम प्रचलित है, उसका अनुवाद करके उनको 'सूक्ष्म शिल्प' नाम दिया गया है।

सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाली ये छः विद्यायें मनुष्यजीवनको अलंकृत और सुखपूर्ण बनाती हैं। भाग्यहीन हिन्दुस्तानियोंके भाग्यमें यह सुख नहीं बदा है। सूक्ष्मशिल्पके साथ उनका बड़ा विरोध है। इन विद्याओंके प्रति इस देशके लोग बहुत ही अनादर और घृणाका भाव दिखाते हैं। इस देशके लोग वास्तवमें सुखी होना जानते ही नहीं।

हम स्वीकार करते हैं कि सारा दोष इस देशके लोगोंका अपना ही नहीं है। उसमें कुछ दोष हमारी सामाजिक रीति-नीतिका भी है। हम बापदादेकी देहली छोड़कर कहीं जायँगे नहीं—उसीमें असंख्य सन्तान-सन्तति लेकर बिलमें चींटियोंकी तरह रहेंगे। अतएव स्थानाभावके कारण सफाई और सौन्दर्य-साधन हो नहीं सकता। कुछ दोष हमारी गरीबीका भी है।

सौन्दर्यका साधन धनके बिना हो नहीं सकता। बहुतोंके पास किसी तरह गिरिस्ती चलानेके लिए भी यथेष्ट धन नहीं है। उसपर सामाजिकताके कारण पहले स्त्रियोंके गहने गढ़ाकर तिथि-त्योहारमें मा-बापकी बर्सी, चौबर्सी और श्राद्ध आदि कृत्योंमें और पुत्र-कन्याके ब्याहमें बित्तबाहर खर्च करना पड़ता है। चाहे शूकरशालाके समान तंग और गन्दी जगहमें रहना पड़े, पर इन बातोंमें रत्तीभर कमी नहीं हो सकती। यही सामाजिक रीति है। इच्छा होनेपर भी समाज-शृंखलामें बँधा हुआ हिन्दू इस रीतिके विपरीत आचरण नहीं कर सकता। कुछ दोष हिन्दूधर्मका भी है। जिस धर्मके अनुसार कीमती संगमर्मरके फर्शवाले मकानको भी गोबर लीपकर साफ बनानेकी रीति है, उस धर्मकी कृपासे सूक्ष्मशिल्पकी दुर्दशा होना ही सर्वथा संभव है।

यह सब स्वीकार कर लेनेपर भी हम दोषसे बच नहीं सकते। जो अँगरेज क्लर्की करके किसी तरह सौ रुपये महीनेमें गुजर करता है उसके साथ, घरकी सजावट और सफाईके बारेमें सालमें २०,०००) रुपये मुनाफेके पानेवाले देहाती जमींदारकी तुलना करो। देखोगे कि वह भेद बहुत कुछ स्वाभाविक सा है। दो चार धनाढ्य बाबू अँगरेजोंका अनुकरण करके अँगरेजोंकी तरह घर वगैरहकी सजावट किया करते हैं और भास्कर्य तथा चित्र आदिके द्वारा घरको सजाते हैं। हिन्दुस्तानी नकल-नवीस अच्छे होते हैं। उनके अनुकरणमें शिथिलता जरा भी नहीं देख पड़ती। किन्तु उनका भास्कर्य और चित्रोंका संग्रह देखनेसे ही जान पड़ता है कि अनुकरणकी स्पृहासे ही उन्होंने वह संग्रह किया है। नहीं तो सौन्दर्यके प्रति उनका आन्तरिक अनुराग नहीं है। यहाँ भले-बुरेका विचार नहीं है, मँहगी चीज होनी चाहिए। सजावटकी निपुणता नहीं है, सामग्री संख्यामें अधिक होनी चाहिए। भास्कर्य और चित्रोंको जाने दीजिए। काव्यके सम्बन्धमें भी हिन्दुस्थानियोंमें उत्तम अधमके विचारकी शक्ति नहीं देख पड़ती। इस विषयमें यहाँके सुशिक्षित और अशिक्षित समान हैं। दोनोंमें बहुत थोड़ा भेद है। नृत्य और गीतकी विद्या तो शायद हिन्दुस्तानसे उठ ही गई है। सौन्दर्यके विचारनेकी शक्ति, सौन्दर्य-रसके आस्वादनका सुख, शायद विधाताने इस देशके लोगोंके भाग्यमें नहीं लिखा।



संगीत।

संगीत किसे कहते हैं? सभी जानते हैं कि सुरसमेत शब्द ही संगीत है। पर अब प्रश्न यह है कि सुर क्या है?

किसी वस्तुमें दूसरी वस्तुका आघात लगनेसे शब्द उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थमें आघात लगता है उसके परमाणुओंमें कम्पन पैदा हो जाता है। उस कम्पनसे उसके आसपासकी हवा भी कम्पित होती है। जैसे तालाबमें जलके ऊपर ईंट फेकनेसे छोटी छोटी लहरें उठकर मण्डलाकारमें फैलती हैं वैसी ही कम्पित वायुकी लहरें चारों ओर फैलती हैं। वे ही तरंगें कानमें प्रवेश करती हैं। कानके पर्देमें एक सूक्ष्म झिल्ली है। वायुकी लहरोंका सिलसिला उसी झिल्लीपर जाकर धक्का मारता है; उसके बाद वह उस झिल्लीसे मिली हुई हड्डी आदिके द्वारा कानके स्नायुमें पहुँचकर मस्तिष्कमें प्रवेश करता है। उसीसे हमें शब्दका अनुभव होता है।

इस कारण वायुका कम्पन ही शब्दका मुख्य कारण है। वैज्ञानिकोंने यह निश्चित किया है कि जिस शब्दमें, हर सेकण्डमें, ४५,००० दफा वायुका कम्पन होता है उसे हम सुन पाते हैं; उससे अधिक कम्पन होने पर हम नहीं सुन पाते। एक और वैज्ञानिकका कहना है कि हर सेकण्डमें जिस शब्दमें, १४ दफासे कम कम्पन होता है उस शब्दको हम नहीं सुन पाते। इस वायु-कम्पनकी समान मात्रा ही सुरका कारण है। दो कम्पनोंमें जितना समय बीतता है वह यदि हरबार समान रहे तो सुर पैदा हो जाता है। गीतमें ताल जैसे मात्राकी समता मात्र है, वैसे ही शब्दकम्पनमें मात्राकी समता होनेसे सुरकी उत्पत्ति होती है। जिस शब्दमें वह मात्राकी समता नहीं, वही 'बेसुरा' कहलाता है। ताल-सुर ही संगीतका सारांश है।

इस सुरकी एकता या बहुत्व ही संगीत है। बाहरी प्रकृति-तत्त्वमें संगीतकी यह प्रक्रिया है। किन्तु इससे मानसिक सुख क्यों होता है, सो भी बतलाते हैं।

संसारमें कुछ भी ऐसा नहीं जो सम्पूर्ण रूपसे उत्कृष्ट हो। सभी चीजोंमें उत्कर्षके किसी अंशका अभाव या दोष है। किन्तु निर्दोष उत्कर्षकी हम

अपने मनमें कल्पना कर ले सकते हैं; और एकबार अपने मनमें उसकी प्रतिमा स्थापित कर लेनेपर उसकी प्रतिमूर्त्तिकी सृष्टि भी कर सकते हैं। जैसे संसारमें कभी निर्दोष मनुष्य नहीं मिलता, जितने मनुष्य देख पड़ते हैं उन सबमें कोई न कोई दोष अवश्य है। किन्तु हम उन सब दोषोंको त्यागकर, सुन्दर कान्तिमात्रके सौन्दर्यको ध्यानमें रखकर, एक निर्दोष मूर्त्तिकी कल्पना कर सकते हैं। और, मनमें कल्पना करके पत्थरकी एक निर्दोष प्रतिमा गढ़ी जाती है । इस प्रकार उत्कर्षकी चरम सृष्टि ही काव्य है—चित्र आदिका उद्देश्य है।

जैसे सभी वस्तुओंके चरम उत्कर्षकी एक सीमा है, वैसे ही शब्दके उत्कर्षकी भी है। बालकोंकी बातें मीठी लगती हैं, युवतीकी आवाज मनको मोह लेती है, वक्ताका स्वर ही वक्तृताका सारांश है । वक्तृता सुननेसे जितना अच्छा लगता है, उतना उसी विषयको पुस्तकमें पढ़ना अच्छा नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि उसमें वह स्वर और उच्चारणकी अदा नहीं है । जिस बातके सहज भावसे कहनेमें कोई रस नहीं मिलता, वही बात किसी रसिकके उच्चारणसे बहुत ही रसीली जान पड़ती है। कभी कभी एक साधारण बातमें इतना शोक, इतना प्रेम या इतना आह्लाद प्रकट होते देखा जाता है कि शोक, प्रेम या आह्लाद जाननेके लिए लिखे गये लंबे चौड़े व्याख्यानमें उसका शतांश भी नहीं पाया जाता। क्यों ऐसा होता है? केवल स्वर और उच्चारणके प्रभावसे। उस स्वर या उच्चारणका भी अवश्य ही एक चरम उत्कर्ष है। वह अत्यन्त सुखदायक हो तो आश्चर्य ही क्या है। क्यों कि साधारण स्वर या उच्चारण भी मनको चञ्चल बना देता है। स्वर या उच्चारणका वह चरम उत्कर्ष ही संगीत है। स्वर मनके भावका चिह्न है। अतएव संगीतके द्वारा सब प्रकारके मानसिक भाव प्रकट किये जा सकते हैं।

सभी समयोंमें, सभी देशोंमें, सभी लोगोंमें भक्ति, प्रेम और आह्लादके सूचक संगीत गाये जाते हैं। केवल दुष्टता प्रकट करनेवाले संगीत नहीं हैं। जिनसे राग-द्वेष आदि भाव व्यक्त होते हैं वे शब्द गीतोंमें नहीं हैं। रणवाद्य आदि अवश्य हैं, किन्तु वे हिंसाके लिए उत्तेजित करने-

वाले नहीं है। उनका काम केवल उत्साह बढ़ाना ही है। कल्पनाके द्वारा हम क्रोध, अहङ्कार आदि दुष्टभावोंके वर्णनको गीतमें भावसिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु वह वर्णन केवल कल्पनात्मक रहता है। समझाये बिना वह समझमें नहीं आता। इस कारण ऐसे गीत स्वभावसंगत नहीं होते। शोक प्रकट करनेवाले गीत हैं। वे गीत अत्यन्त मनोहर हैं। किन्तु शोक क्रूरभाव नहीं है, वह करुणाके अन्तर्गत होनेसे भक्ति और प्रेमकी श्रेणीमें ही आ जाता है।

इसके उपरान्त राग-रागिनियोंके सम्बन्धमें कुछ कहना है । जैसे तेतीस आदि-देवतोंसे तेतीस करोड़ देवतोंकी सृष्टि हुई है, वैसे ही छः रागों और छत्तीस रागिनियोंसे, अद्भुत कल्पनाके प्रभावसे, असंख्य उपराग उपरागिनी और उनके लड़के, नाती-पोते तक कल्पित हुए हैं। यह बड़ा ही रहस्य है। हिन्दुओंकी बुद्धि अत्यन्त कल्पना-कुतूहलसे परिपूर्ण है । उसने शब्दार्थ मात्रको मनुष्य-चरित्र-विशिष्ट बना डाला है। प्राकृतिक वस्तुओं या शक्तियों भरको देव-पदवी दे दी है। पृथ्वी देवी है; आकाश, इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु--सभी देवता हैं; नद--नदी भी देव-देवी हैं। सब देव-देवी मनुष्यके समान शरीरधारी हैं। उन सबके स्त्री, स्वामी, पुत्र, पौत्र आदि हैं। तर्कके द्वारा पहले यह सिद्ध हुआ कि इस जगतकी सृष्टि करनेवाला एक कोई है। वह ब्रह्मा है। देखा जाता है कि घट--पट आदि वस्तुओंकी सृष्टि करनेवाला एक हाथ-पैरोंवाला साकार पुरुष होता है। इस कारण ब्रह्मा भी साकार और हाथ पैरोंवाले हैं। अधिकता यह है कि उनके चार मुँह हैं। उनके एक ब्रह्माणीक होना भी जरूरी ठहरा। एक ब्रह्माणी भी हैं। ऋषिगण उनके पुत्र हुए। हंस उनका वाहन हुआ—नहीं तो चलते-फिरते वे कैसे?—ब्रह्मलोकमें गाड़ियाँ या पालकियाँ नहीं है। कल्पना करनेवालोंको केवल इतनेहीसे सन्तोष नहीं हुआ। मनुष्य जैसे काम, क्रोध आदिके वशीभूत, महापापी होते हैं वैसे ही ब्रह्मा भी कन्याहारी हैं।

जहाँ सृष्टिकर्त्ता आदि अप्रमेय पदार्थ—आकाश, नक्षत्र, पहाड़, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थ—अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक क्रियायें—काम आदि मानसिक वृत्तियाँ—इत्यादि सब मूर्ति-विशिष्ट पुत्र–स्त्री–युक्त और सभी

विषयोंमें मनुष्यस्वभावसम्पन्न हैं, वहाँ स्वर-समष्टि रागके लिए इन बातोंकी कल्पनाका होना क्या विचित्र है? वे भी साकार गृहस्थ माने गये। रागके साथ रागिनीकी कल्पना हुई। केवल यही नहीं कि हर एक रागके एक ही एक रागिनी हो। वे भी बंगाली कुलीन ब्राह्मण, पालीगेमिस्ट, हैं। एक एक रागके छः छः रागिणियाँ हैं। संगीतके रसिकोंको इतनेहीसे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने रागोंको पूरा बाबू बना डाला। रागिणीके ऊपर उप-रागिणियोंकी भी कल्पना हुई। उपरागिणियोंके लिए उपरागोंकी भी कल्पना हुई। राग-रागिणी, उपराग-उपरागिणी वगैरहके लड़के-बाले और पोते-पोती भी देख पड़े।

किन्तु यह सब केवल दिल्लगी भी नहीं है। इस दिल्लगीके भीतर विशेष सारांश है। राग-रागिणियोंको आकार देना केवल दिल्लगी नहीं है। शब्द-शक्तिको कौन नहीं जानता? इस बातको सब जानते हैं कि किसी खास शब्दको सुनकर मनमें किसी खास भावकी उत्पत्ति हुआ करती है। किसी दृश्य वस्तुको देखकर भी उसी भावका उदय हो सकता है। मान लो, हमने कभी किसी पुत्रशोकसे व्याकुल माताके रोनेकी ध्वनि सुनी। यह भी मान लो कि वह रोनेवाली हमें देख नहीं पड़ती। हम केवल उसके रोनेकी ध्वनि सुन रहे हैं। उस ध्वनिको सुनकर हमारे मनमें शोकका आविर्भाव हुआ। फिर हम जब वैसा ही रोनेका शब्द सुन पायँगे, हमको वही शोक याद आ जायगा—वैसे ही शोकका आविर्भाव होगा।

मान लो, अन्यत्र हमने देखा कि पुत्रशोकसे आतुर माता बैठी हुई है। वह रोती नहीं है; किन्तु उसका चेहरा देखनेसे ही हमने उसकी उत्कट मानसिक यंत्रणाका अनुभव कर लिया। उस सन्तापसे क्लेशको प्राप्त मलिन मुख-मण्डलका भाव हमारे हृदयमें अंकित हो गया। तबसे जब वैसा मलिन शोकार्त चेहरा देखेंगे तभी हमको वह शोक याद आ जायगा—हृदयमें उस शोकका आविर्भाव होगा।

अतएव वह ध्वनि और वह मुखका भाव, दोनों ही हमारे मनमें शोकके चिह्नस्वरूप हैं। वैसी ध्वनिसे वही शोक याद हो आवेगा। मानस-

प्रकृतिके नियमके अनुसार इसका एक और विचित्र फल होता है। शब्द और चेहरेका ढंग, दोनों ही शोकके चिह्न होनेके कारण परस्पर एक दूसरेकी याद दिलाते हैं। वैसी क्रन्दनध्वनि सुन पड़ते ही वैसा चेहरा याद आ जाता है। वैसा चेहरा देखते ही वैसी क्रन्दन-ध्वनि स्मरण हो आती है। इस प्रकार वारम्वार दोनोंके एक साथ याद आनेके कारण दोनों ही दोनोंकी प्रतिमा बन जाते हैं। वह शोकसूचक चेहरा उस शोकसूचक ध्वनिकी साकार प्रतिमा जान पड़ता है।

ध्वनि और मूर्तिके इस परस्पर सम्बन्धके अवलम्बनसे ही प्राचीन लोगोंने राग-रागिणियोंकी साकार कल्पना करके, उनके ध्यानोंकी रचना की है। उन ध्यानोंसे प्राचीन आर्योंकी विचित्र कवित्वशक्ति और कल्पनाशक्तिका परिचय प्राप्त होता है। हम लोग पूर्वपुरुषोंकी कीर्त्तिकी जितनी आलोचना करते हैं, उतना ही उनकी महानुभावताको देखकर विस्मित होते हैं।

दो एक उदाहरण दिये जाते हैं। अनेक लोगोंने टोड़ी रागिनी सुनी होगी। सहृदय पुरुष उसे सुनकर जिस एक अनिर्वचनीय भावमें मग्न हो जाते हैं, वह सहजमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। साधारणतः जिसे 'आवेश' कहते हैं वह इस भावका एक अंशमात्र है—किन्तु एक अंशमात्र ही है। उसके साथ भोगकी अभिलाषा भी मानो सम्मिलित है। वह भोगकी अभिलाषा नीच-प्रवृत्ति नहीं है। जो भोग निर्मल और सुख देनेवाला है, जिसको अन्यजनकी अपेक्षा नहीं है, जो केवल आध्यात्मिक है, उसी भोगकी अभिलाषा। किन्तु उस भोगकी अभिलाषाकी सीमा नहीं है, तृप्ति नहीं है। उसमें न निरोध है और न शासन है। भोग और भोगसुख-अभिलाषा लोटपोट हो जाती है। आकांक्षा बढ़ उठती है। प्राचीन लोगोंने इस टोड़ी रागिणीकी मूर्त्तिकी इस प्रकार कल्पना की है कि वह परमसुन्दरी युवती, वस्त्र-अलंकारसे आभूषित, किन्तु विरहिणी है। आकांक्षाकी निवृत्ति न होनेके कारण ही वह विरहिणी कल्पित हुई है। यह विरहिणी सुन्दरी वनविहारिणी है। वनमें, एकान्तमें, अकेले बैठकर मद्यपानसे उन्मत्तसी हो रही है। वीणा बजाकर गा रही है। उसके वस्त्राभूषण अपने अपने स्थानसे गिरेसे पड़ते हैं। वनकी हरिणियाँ उसके आगे आकर चुपचाप खड़ी हुई हैं।

यह चित्र अनिर्वचनीय सुन्दर है। किन्तु सौन्दर्यके अतिरिक्त इसमें एक अद्भुत गुण है। यह टोड़ी रागिणीकी यथार्थ प्रतिमा है। टोड़ी रागिणी सुननेसे मनमें जिस भावका उदय होता है, ठीक वही भाव इस प्रतिमाको देख कर भी उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार अन्यान्य राग-रागिणियोंके ध्यान हैं। मुल्तानी रागिणी दीपक रागकी स्त्री है। यह गोरी सुन्दरी लाल कपड़े पहने दीपक रागके पास अवस्थित है। भैरवी रागिणी श्वेतवस्त्र पहने और अनेक अलंकारोंसे आभूषित है। इत्यादि।

इसमें सन्देह नहीं कि इन ध्यानोंके सम्बन्धमें मतभेद हैं। जब वैज्ञानिक विषयोंमें ही पण्डितोंमें मतभेद पाया जाता है, तब कल्पनाके विषयोंमें अनेक मुनियोंके अनेक मत होना कुछ विचित्र नहीं है। केवल आँख मूँदकर, सोचकर मनसे अलंकारकी सृष्टि करनेपर अलंकारके सम्बन्धमें मतभेद होना आश्चर्य ही क्या है? किन्तु यह सबको स्वीकार करना होगा कि कुछ शब्दोंके द्वारा कुछ भावोंका उदय होता है। तर्क करनेवाले लोग कह सकते हैं कि कोमल स्वरसे यदि शोक भी सूचित होता है, प्रेम भी सूचित होता है, उन्माद भी सूचित होता है, तो स्वरभेदके द्वारा एक ही भावकी उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है? इसके उत्तरमें यही कहना है कि वह उपलब्धि केवल संस्कारके आधीन है। हमारी संगीत-विद्यामें स्वर कई हैं और भेद भी असीम हैं। किन्तु केवल शिक्षा और अभ्याससे ही उनके तारतम्यकी उपलब्धि होती है। साधारण अभ्यासके कारण ही लड़के शहनाई सुनकर खुशीसे नाचने लगते हैं, हाइलेंडर बगपाइपमें शरीर फुलाते हैं (?)। यह अभ्यास बद्धमूल और सुशिक्षामें परिणत होनेसे भाव-सञ्चयकी अधिकता उत्पन्न होती है—सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपसे अनुभव किया जा सकता है। शिक्षाहीन मूढ़लोग जिसमें हँसते हैं, भावुक उसीमें भावातिरेकसे रोने लगते हैं। अतएव लोगोंका यह साधारण संस्कार कि संगीत-सुखका अनुभव मनुष्यके लिए स्वभाव-सिद्ध है, भ्रमपूर्ण है। एक सीमातक यह सत्य है कि अच्छी आवाज सबको अच्छी लगती है—स्वाभाविक तालका बोध सबको होता है, किन्तु उच्च

श्रेणीके संगीतके सुखका अनुभव शिक्षाके बिना नहीं हो सकता। जिनको अभ्यास नहीं वे जैसे प्याज नहीं खाना चाहते, वैसे ही अशिक्षित लोग उत्कृष्ट संगीतको सुनना नहीं चाहते। दोनों ही बातें अभ्यासके आधीन हैं। संस्कारहीन लोग राग-रागिणी-परिपूर्ण पक्का गाना सुनना नहीं चाहते और बहुत अनुप्रासोंसे युक्त यूरोपका संगीत हिन्दुस्तानियोंके लिए जंगलमें रोनेके बराबर है। किन्तु इन दोनोंके लिए अनादरका भाव असभ्यताका चिह्न है। जैसे राजनीति, धर्मनीति, विज्ञान, साहित्य आदि विषयोंको जानना सब मनुष्योंके लिए उचित है, वैसे ही शरीरके स्वास्थ्यके लिए व्यायाम और मनोरञ्जनके लिए मनोमोहिनी संगीतविद्या जानना भी हरएक भले आदमीका कर्तव्य है। अभ्याससम्बन्धिनी विद्याओंमें संगीत सर्व प्रधान है। हम लोगोंके भले घरोंमें लड़कियों और लड़कोंको संगीत-शिक्षा देना निषिद्ध समझा जाना, हमारी असभ्यताका चिह्न है। स्त्रियोंके संगीतनिपुण होनेपर घरमें एक विमल आनन्दकी गंगा बहती है। शौकीनोंका मद्यपान और एक अन्यदोष उससे बहुत कुछ दूर हो सकता है। इस देशमें निर्मल आनन्दके अभावसे ही बहुत लोग मद्यपान करने लगते हैं—संगीतप्रियतासे ही बहुत लोग वेश्याओंके घर जाने और बिगड़ने लगते हैं।

नवीन लेखकोंके लिए कुछ उपदेश।

(१) यशके लिए न लिखना। अगर यशके लिए लिखोगे तो यश भी न मिलेगा और तुम्हारी रचना भी अच्छी न होगी। रचना अच्छी होनेसे यश आप ही प्राप्त होगा।

(२) रुपयेके लिए न लिखना। यूरोपमें इस समय अनेक लोग रुपयेके लिए लिखते हैं और रुपये पाते भी हैं। उनकी रचना भी अच्छी होती है। किन्तु हमारे यहाँ अभी वह दिन नहीं आया। इस समय यहाँ रुपयेके लिए लिखनेसे लोकरञ्जनकी प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। और, हमारे

देशके वर्त्तमान साधारण पाठकोंकी रुचि और शिक्षापर ध्यान देकर लोक-रञ्जनकी ओर झुकनेसे रचनाके विकृत अनिष्टका कारण हो उठनेकी सम्पूर्ण संभावना है।

(३) अगर तुम अपने मनमें यह समझो कि लिखकर देश या मनुष्य-जातिकी कुछ भलाई कर सकोगे, अथवा किसी सौन्दर्यकी सृष्टि कर सकोगे तो अवश्य लिखो। जो लोग अन्य उद्देश्यसे लिखते हैं वे लेखककी उच्च पदवीको नहीं पा सकते।

(४) जो असत्य और धर्मविरुद्ध है, जिसका उद्देश्य पराई निन्दा, दूसरेको पीड़ा पहुँचाना या स्वार्थसाधन है, वह लेख कभी हितकर नहीं हो सकता। इस कारण ऐसा लिखना सर्वथा त्याज्य है। सत्य और धर्म ही साहित्यका लक्ष्य है। और किसी उद्देश्यसे कलम उठाना महापाप है।

(५) जो लिखो उसे वैसे ही प्रकाशित न कर दो। कुछ दिनों तक उसे डाल रक्खो। कुछ दिनों बाद उसका संशोधन करो। तब तुम्हें देख पड़ेगा कि तुम्हारे लेखमें अनेक दोष हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास आदिको लिख कर दो एक वर्ष डाल रखकर फिर संशोधन करनेसे वे विशेष उत्कर्षको प्राप्त करते हैं। किन्तु जो लोग सामयिक साहित्यकी सेवा करते हैं उनके लिए यह नियम नहीं है। इसी कारण लेखकके लिए सामयिक साहित्य अवनतिका कारण हुआ करता है।

(६) जिस विषयमें जिसकी गति नहीं है, उस विषयमें उसे हाथ न डालना चाहिए। यह एक सीधी बात है। पर सामयिक साहित्यमें इस नियमकी रक्षा नहीं होती।

(७) अपनी विद्या या विद्वत्ता दिखानेकी चेष्टा मत करो। अगर विद्या होती है तो वह लेखमें आप ही प्रकट हो जाती है, चेष्टा नहीं करनी पड़ती। विद्या प्रकट करनेकी चेष्टासे पाठक खीझ उठते हैं और उससे रचना-सौन्दर्यको भी विशेष हानि पहुँचती हैं। आज कलके लेखोंमें अँगरेजी, संस्कृत, फ्रेंच और जर्मन भाषाओंके उद्धरण (कोटेशन) बहुत अधिक देख पड़ते हैं। जो भाषा तुम्हें मालूम नहीं, उस भाषाके किसी वाक्य या अंशको औरोंके ग्रन्थकी सहायतासे कभी मत उद्धृत करो।

(८) अलंकारोंके प्रयोग या मज़ाक लानेके लिए चेष्टा न करना। किसी किसी स्थानमें अलंकार या व्यंग्यका प्रयोजन अवश्य होता है; किन्तु लेखकके भंडारेमें यदि यह सामग्री होगी तो प्रयोजनके समय आप उपस्थित हो जायगी और भंडारेमें न होगी तो सिर पटकनेपर भी नहीं आ सकती। असमयमें या भंडारा सूना होनेपर अलंकारोंके प्रयोग या विनोदकी चेष्टाके समान उपहासकी बात और नहीं है।

(९) यह एक प्राचीन विधि है कि जिस स्थानपर अलंकार या व्यंग्य बहुत सुन्दर जान पड़े उस स्थानको काट देना चाहिए। किन्तु मैं यह बात नहीं कहता। पर मेरी सलाह यह है कि उस स्थानको अपने मित्रोंके आगे वारम्वार पढ़ो। अगर वह अच्छा न होगा तो लेखकको आप ही अच्छा न लगेगा—मित्रोंके आगे पढ़नेमें भी लज्जा मालूम होगी। तब उसे काट देना ही ठीक जान पड़ेगा।

(१०) सब अलंकारोंसे श्रेष्ठ अलंकार सरलता है। जो सरल शब्दोंमें सहज रीतिसे पाठकोंको अपने मनका भाव समझा सकते हैं वे ही श्रेष्ठ लेखक हैं। क्योंकि लिखनेका उद्देश्य ही पाठकोंको समझाना है।

(११) किसीका अनुकरण मत करो। अनुकरणमें दोषोंका ही अनुकरण होता है, गुणोंका नहीं। इस बातको कभी मनमें जगह मत दो कि अमुक अँगरेजी, संस्कृत या हिन्दीके लेखकने ऐसा लिखा है तो मैं भी वैसा लिखूँ।

(१२) जिस बातका प्रमाण न दे सको वह भी मत लिखो। प्रमाणोंके प्रयोगकी यद्यपि सब समय आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रमाणका हाथमें रहना बहुत जरूरी है।

हर एक जातिकी भाषाका साहित्य उस जातिके लिए आशा-भरोसा होता है। उन जातियोंके लेखक यदि इन नियमोंपर ध्यान रक्खेंगे तो उनकी भाषाके साहित्यकी श्रीवृद्धि शीघ्रताके साथ होगी।



भारत-कलंक ।

भारतवर्ष पराधीन क्यों है ?

भारतवर्ष कई सौ वर्षोंसे पराधीन क्यों है ? इस प्रश्नके उत्तरमें सब लोग कहा करते हैं कि भारतके लोग हीनबल हैं। इसी कारण "Effeminate Hindoos." यूरोपियनोंकी जिह्वापर सदा बना रहता है। यही भारतका कलंक है। किन्तु उधर यूरोपियनोंके मुखसे ही भारतवर्षके सिपाहियोंके बल और साहसकी प्रशंसा सुनी जाती है। उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिन्दुओंके बलसे ही काबुल जीता गया। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्हीं स्त्रीस्वभाव हिन्दुओंकी सहायतासे उन्होंने भारतवर्षको जीता है। वे स्वीकार करें या न करें, उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिन्दुओंके—मराठे और सिक्खोंके—निकट अनेक युद्धोंमें उन्हें परास्त भी होना पड़ा है।

आधुनिक हिन्दुओंका बल-वीर्य इस समय चाहे जैसा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह प्राचीन हिन्दुओंके बल-वीर्यकी अपेक्षा हीन है। हजारों वर्षोंकी अधीनतासे उसका ह्रास अवश्य ही हो गया है। प्राचीन भारतके लोग अन्य जातियोंके द्वारा विजित होनेके पहले विशेष बलशाली थे। ऐसा समझनेके अनेक कारण हैं। दुर्लक्ष होनेके कारण वे पराधीन नहीं हुए।

हम स्वीकार करते हैं कि इस पक्षका समर्थन करना सहज नहीं है और इस विषयके यथेष्ट प्रमाणोंको प्राप्त करना भी दुस्साध्य है। इस तर्ककी मीमांसा केवल इतिहासके ही सहारे हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश अन्यान्य जातियोंकी तरह भारतवर्षीय लोग अपनी कीर्तियोंको लिखकर रख नहीं गये हैं। प्राचीन भारतवर्षका इतिहास नहीं है। इसी कारण भारतवर्षके लोगोंकी जो प्रशंसनीय युद्धकीर्ति थी वह भी लुप्त हो गई है। जो ग्रन्थ 'पुराण' के नामसे प्रसिद्ध हैं उनमें यथार्थ इतिहास कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह अस्वाभाविक अमानुषिक कथाओंसे ऐसा ढका हुआ है कि यथार्थ घटनाका निश्चय किसी तरह नहीं होता।

भाग्यवश अन्य देशोंके ऐतिहासिकोंके ग्रन्थोंमें दो जगह प्राचीन भारतवर्षके लोगोंके युद्ध आदिका उल्लेख पाया जाता है। पहला हाल तो तबका है जब मेसीडोनियाके अलेग्जंडर या सिकन्दर दिग्विजयकी यात्रा करके भारतमें आकर लड़े थे। रचना-कुशल यवन-लेखकोंने उस युद्धका वर्णन किया है। दूसरे, मुसलमानोंने भारतको जीतनेके लिए जो उद्योग किये थे, उनका विवरण मुसलमान लेखक अपने ग्रन्थोंमें लिख गये हैं। किन्तु पहले ही वक्तव्य यह है कि ऐसी गवाहीमें पक्षपातकी भारी संभावना है। चित्रकारके मनुष्य होनेके कारण ही चित्रमें सिंह मनुष्यके द्वारा परास्त देख पड़ता है। ऐसे ऐतिहासिकोंकी संख्या बहुत कम है जो अपनी जातिके लाघव या पराभवको स्वीकार करके सत्यके अनुरोधसे शत्रुपक्षके यशका कीर्तन करते हैं। अपेक्षाकृत मूढ़ आत्मगौरवपरायण मुसलमानोंकी बात जाने दीजिए, सुशिक्षित, सत्यनिष्ठाका अभिमान रखनेवाले यूरोपके इतिहास-लेखक भी इस दोषसे ऐसे कलंकित हैं कि उनके ग्रन्थ पढ़ते पढ़ते कभी कभी घृणा उत्पन्न हो आती है। इसी कारण इस देशके और शत्रुपक्षके, दोनों ओरके इतिहास-लेखकोंकी सहायता मिले बिना किसी घटनाके यथार्थरूपका निर्णय नहीं किया जा सकता। केवल आत्मगौरवपरायण परधर्मावलम्बी सत्यभीत मुसलमान लेखकोंकी बातपर निर्भर करके प्राचीन भारतवर्षके लोगोंकी युद्धनिपुणताकी मीमांसा नहीं की जा सकती। खैर जो कुछ हो, निम्नलिखित दो बातें मुसलमान इतिहास-लेखकोंके ग्रन्थोंसे ही विचारके द्वारा सिद्ध होती हैं।

एक तो यह कि अरबदेशके लोग एक प्रकारसे दिग्विजयी हो चुके थे। उन्होंने जब जिस देशपर आक्रमण किया तब उसी देशको जीतकर पृथ्वीपर अतुल साम्राज्य स्थापित किया। वे केवल दो देशोंसे हारकर निकाले गये। पश्चिममें फ्रान्ससे और पूर्वमें भारतसे। अरबके लोगोंने मुहम्मदकी मृत्युके बाद छः वर्षमें सीरियादेशको, दस वर्षमें फारिसको, एक सालमें आफ्रिका और स्पेनको, अठारह वर्षमें काबुलको और आठ वर्षमें तुर्किस्तानको सम्पूर्णरूपसे अपने अधिकारमें कर लिया था। किन्तु वे भारतवर्षको जीतनेके लिए तीनसौ वर्षतक यत्न करके भी उसे हस्तगत नहीं कर सके। महम्मद-

बिन कासिमने सिन्धुदेशपर अवश्य अधिकार कर लिया था, किन्तु राजपूतानेने उनको हराकर बाहर निकाल दिया था। उनके मरनेके कुछ दिनों बाद राजपूतोंने सिन्धुदेशपर फिर अधिकार कर लिया था। दिग्विजयी अरब लोग भारतको जीत नहीं सके। एलफिन्स्टन कहते हैं कि हिन्दुओंका अपने धर्मके प्रति दृढ़ अनुराग ही उनके यों अजेय होनेका कारण था। किन्तु हम कहते हैं, नहीं, युद्ध-निपुणता और लड़नेकी शक्ति ही इसका कारण था। हिन्दुओंका अपने धर्मपर अनुराग अभी तक प्रबल है। फिर वे क्यों लगातार सात सा वर्षोंसे अन्य जातियोंके अधीन हैं ?

दूसरे यह कि जब किसी प्राचीन देशके निकट किसी नवीन अभ्युदयको प्राप्त और विजयकी अभिलाषा रखनेवाली जाति अवस्थिति करती है तब प्राचीन जाति प्रायः नवीन जातिके प्रभुत्वके अधीन हो जाती है। इस प्रकारकी सर्वान्तकारिणी और विजयकी अभिलाषा रखनेवाली जाति प्राचीन यूरोपमें रोमन लोग और एशियामें अरब और तुर्क लोग थे। जो जाति इनके संस्रवमें आई, वही परास्त होकर इनके अधीन हो गई। पहले ही कहा जा चुका है कि कितने थोड़े समयमें अरबी लोगोंने मिसर, उत्तर आफ्रिका, स्पेन, फारिस, टर्की और काबुलके राज्योंको काबूमें कर लिया था। इनकी अपेक्षा भी सुप्रसिद्ध कुछ साम्राज्योंका उदाहरण दिया जा सकता है। रोमन लोगोंने ईस्वी सन्के २०० वर्ष पहले ग्रीसपर आक्रमण किया था। तबसे बावन वर्षके बीचमें ही उन्होंने संपूर्ण ग्रीसके राज्यको बिलकुल अपने वशमें कर लिया। सुप्रसिद्ध कार्थेज राज्य ईस्वी सन्के २६४ वर्ष पहले, अर्थात् १२० वर्षके बीचमें ही रोमन लोगोंने उस राज्यको विध्वंस करके अपने अधीन बना लिया। पूर्व-रोमन या ग्रीक-साम्राज्य चौदहवीं शताब्दीके प्रथम भागमें तुर्कों द्वारा आक्रान्त होकर सन् १४५३ ई० में, अर्थात ५० वर्षके बीचमें, टर्कीके दूसरे महम्मदके हाथसे लोपको प्राप्त हो गया। पश्चिम रोमन जिसका नाम अभीतक जगतमें वीर-दर्पकी पताका समझा जाता है, वह भी सन् २८६ ई० में उत्तरकी बर्बर जातिके द्वारा पहले आक्रान्त होकर, सन् ४७६ ई० में, अर्थात् प्रथम बर्बर-विप्लवके १९०

वर्षोंके बीचमें ही ध्वंसको प्राप्त हो गया। सन् ६६४ ई० में पहले पहल अरबके मुसलमानोंने भारतपर आक्रमण किया था। उस सालसे ५२९ वर्षोंके बाद शहाबुद्दीन गोरी उत्तरभारतपर अधिकार कर सका था। किन्तु शहाबुद्दीन गोरी या उसके अनुचर अरबी नहीं थे। जैसे अरबी लोगोंका यत्न निष्फल हुआ, वैसे ही गजनी शहरके रहनेवाले तुर्कोंकी भी चेष्टा व्यर्थ हुई। जिन्होंने पृथ्वीराज, जयचन्द और सेनवंशीय राजाओंसे उत्तर-भारतका राज्य छीना, वे पठान या अफगान थे। अरबियोंके प्रथम भारताक्रमणके ५२९ वर्ष बाद और तुर्कोंके प्रथम भारताक्रमणके २१३ वर्ष बाद उक्त पठानोंने भारतके राज्यपर अधिकार कर पाया। पठानलोग कभी अरबी या तुर्क लोगोंके समान समृद्धिशाली या प्रतापी न थे। उन्होंने केवल पहलेके अरबी और तुर्क लोगोंके सूचित कार्यको सम्पन्न किया *। अरबी, तुर्क और पठान, इन तीनों जातियोंकी यत्नपरम्परासे साढ़े पाँचसौ वर्षमें भारतवर्षकी स्वाधीनता मिटी।

मुसलमान साक्षी यही कहते हैं। यह भी स्मरण रखना उचित है कि इन्होंने जब हिन्दुओंका परिचय पाया, तब हिन्दुओंका सुदिन बीत चुका था—राजलक्ष्मी क्रमशः फीकी पड़ती जा रही थी। ईस्वी सन् चलनेके पहले-वाले हिन्दू अधिकतर बलवान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उसी समय यहाँके लोगोंके साथ ग्रीक लोगोंका परिचय हुआ। वे खुद अद्वितीय बलशाली थे। उन्होंने वारम्वार भारतवर्षके लोगोंके साहस और युद्ध-निपुणताकी प्रशंसा की है। मेसीडोनियाके विप्लवके वर्णनके समय ग्रीक-लेखकोंने बार बार यह लिखा है कि एशियामें ऐसी युद्ध-निपुण दूसरी जाति उन्होंने नहीं देखी। यह भी लिखा है कि हिन्दुओंने ग्रीक-सेनाको जितनी हानि पहुँचाई, उतनी और किसी जातिने नहीं। प्राचीन भारतवर्षके लोगोंकी युद्ध-निपुणताके सम्बन्धमें अगर किसीको संशय हो, तो उसे भारतवर्षका वृत्तान्त लिखनेवाले ग्रीक लोगोंके ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

---

* पश्चिम अंशमें अरबी और तुर्कलोग केवल कुछ भूमिपर अधिकार कर सके थे।

भारतभूमि सर्वरत्नप्रसविनी होनेके कारण अन्य देशोंके राजा इसे सदा लोभकी दृष्टिसे देखते आये हैं । इसी कारण अकसर अनेक जातिके लोगोंने आकर उत्तर पश्चिम और पहाड़ी रास्तेसे प्रवेश कर भारतपर अधिकार जमानेकी चेष्टा की है । इरानी, यवन, बाल्हीक, शक, हूण, अरबी, तुर्क आदि सब यहाँ आये हैं और सिन्धुके पार अथवा दोनों किनारोंपर कुछ दिनोंके लिए कुछ जगहपर अधिकार करके फिर निकाल दिये गये हैं । पन्द्रहवीं शताब्दी तक आर्य लोग सब जातियोंको शीघ्र या देरमें दूर करके अपने देशकी रक्षा कर सके । पृथ्वीपर ऐसी कोई जाति नहीं है, और शायद कभी न थी, जिसने पन्द्रहसौ वर्षोंतक प्रबल जातियोंके आक्रमण रोककर इतने दिनोंतक अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा की हो । इतने अधिक दिनोंतक हिन्दुओंकी समृद्धि अक्षय रहनेका कारण निस्सन्देह उनका बाहूबल ही था । अन्य कोई कारण नहीं देख पड़ता ।

इन सब प्रमाणोंके रहते भी सर्वदा सुना जाता है कि हिन्दूलोग सदासे रण-विमुख या युद्ध करनेमें असमर्थ हैं । अदूरदर्शी लोगोंके निकट भारतवर्षके इस चिर-कलङ्कके तीन कारण हैं ।

१—हिन्दुओंका इतिहास नहीं है । अपने गुणोंको अगर आप न गावें तो और कौन गावेगा ? संसारका स्वभाव ही यह है कि जो कोई अपनेको महापुरुष कहकर परिचय नहीं देता, उसे कोई आदमियोंमें ही नहीं गिनता । कब किस जातिने दूसरी जातिके गुण गाये हैं ? रोमनलोगोंके युद्ध-पाण्डित्यका प्रमाण रोमनोंका लिखा हुआ इतिहास है । ग्रीक लोगोंके वीर होनेका परिचय ग्रीक लोगोंके लिखे ग्रन्थोंसे मिलता है । मुसलमानोंके बहादुर होनेकी बात भी हमें केवल मुसलमानोंके ही लेखसे जान पड़ती है । केवल इसी बातके न होनेसे कोई हिन्दुओंके गौरवको नहीं मानता । क्योंकि हिन्दुओंकी उस बातका कोई गवाह नहीं है ।

२—जो जातियाँ दूसरोंके राज्योंपर आक्रमण करती हैं, छीननेकी चेष्टा करती हैं, वे ही युद्धकुशल कहकर अन्य जातियोंके निकट परिचित होती हैं ।

जिन्होंने केवल आत्मरक्षा मात्रमें सन्तुष्ट रहकर दूसरेका राज्य छीननेकी इच्छा नहीं की, उन्होंने कभी वीर-गौरव नहीं पाया। न्यायनिष्ठा और वीर-गौरवका साथ प्रायः नहीं देखा जाता। अभीतक हमारी भाषामें 'भले-मानुस' का अर्थ डरपोक, निकम्मा आदमी किया जाता है। 'अमुक बहुत ही भला या सीधा आदमी है' इसका अर्थ यही है कि वह किसी कामका आदमी नहीं है।

हम यह नहीं कहते कि हिन्दू राजा बिल्कुल ही दूसरोंके राज्य लेनेके लोभसे शून्य थे। वे परस्पर आक्रमण भी किया करते थे। किन्तु भारतवर्ष हिन्दुओंके राज्यकालमें छोटे छोटे मण्डलोंमें बँटा हुआ था। भारतवर्ष ऐसा बड़ा देश है कि छोटे छोटे माण्डलिक राजा कभी उसके बाहर देश-जयकी इच्छासे नहीं जाते थे। कोई हिन्दू राजा कभी सारे भारतको अपने साम्राज्यके अन्तर्गत नहीं ला सका। इसके अलावा हिन्दूलोग यवन-म्लेच्छ आदि अन्यधर्मावलम्बी जातिके लोगोंसे विशेष घृणा करते थे। उनके ऊपर प्रभुत्व करनेकी चेष्टा करनेकी उनके द्वारा कोई संभावना नहीं, बल्कि उन यवनादिके देशोंको जीतनेकी यात्रामें अपने जाति धर्मके नष्ट होनेकी शंका करनेकी संभावना ही अधिक जान पड़ती है। सच है कि इस समयके काबुल-राज्यका अधिकांश उस समय हिन्दुओंके राज्यमें था, किन्तु उस समय वह प्रदेश भारतका ही एक हिस्सा समझा जाता था।

३—हिन्दूलोग बहुत दिनोंसे पराधीन हैं। जो जाति बहुत दिनोंसे पराधीन है उसका वीर-गौरव कैसा? किन्तु इस समयके हिन्दुओंकी वीर्यकी कमी प्राचीन हिन्दुओंके अपमानका उपयुक्त कारण नहीं है। प्रायः अनेक देशोंमें देखा जाता है कि वहाँके प्राचीन और आधुनिक लोगोंमें चरित्रका सादृश्य अधिक नहीं है। इटली और ग्रीस, भारतवर्षकी तरह इस बातके उदाहरण हैं। मध्यकालके इटालियन और वर्तमान ग्रीकोंके चरित्रसे प्राचीन रोमन और ग्रीकोंको कायर सिद्ध करना जैसे अन्याय है, वैसे ही आधुनिक भारतवर्षकी लोगोंकी पराधीनतासे प्राचीन आर्योंमें बलकी कमी सिद्ध करना भी अन्याय है।

हम यह भी नहीं कहते कि आधुनिक भारतवर्षके लोग बिल्कुल ही कायर या नामर्द हैं और इसी लिए इतने दिनोंसे पराधीन हैं। इस पराधीनताके और ही कारण हैं । हम उनमेंसे इस जगहपर दो कारणोंका विस्तारके साथ वर्णन करेंगे ।

एक तो यह कि यहाँके लोगोंमें स्वभावसे ही स्वाधीनताकी आकांक्षा नहीं है । ऐसा खयाल भारतवर्षके लोगोंके मनमें आता ही नहीं कि अपने देश और अपनी जातिके लोग हमपर शासन करें, हम विदेशीय, विजातीय लोगोंके शासनके अधीन क्यों रहें? यह बात यहाँके लोगोंके हृदयसे मेल ही नहीं खाती कि अपनी जातिके राजाका शासन मंगलकर या सुखका आकर है और विजातीय राजाका दण्ड पीड़ादायक अपमानका कारण है। उन्हें यह बोध तो है कि परतन्त्रताकी अपेक्षा स्वतन्त्रता अच्छी है; किन्तु वह बोध मात्र है; वह ज्ञान आकांक्षामें परिणत नहीं है। अनेक वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारा यह ज्ञान हो सकता है कि वे अच्छी हैं। किन्तु उस ज्ञानसे उन सभी वस्तुओंके प्रति हमारे हृदयमें आकांक्षा नहीं उत्पन्न होती। हरिश्चन्द्रके दानीपन और कार्शियसके देशवात्सल्यकी प्रशंसा कौन नहीं करता? किन्तु उनमेंसे कितने हरिश्चन्द्रकी तरह सर्वस्व त्यागने या कार्शियसकी तरह आत्मघात करनेके लिए प्रस्तुत होंगे? प्राचीन या आधुनिक यूरोपकी जातियोंके लोगोंमें स्वातन्त्र्यप्रियता प्रबल आकांक्षाके रूपमें परिणत देख पड़ती है। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता छोड़नेके पहले सर्वस्व और प्राण तकका त्याग कर्तव्य है। किन्तु हिन्दुओंमें यह बात नहीं है। वे समझते हैं कि "जिसकी इच्छा हो वह राज्य करे, हमारा क्या? चाहे अपनी जातिका हो और चाहे दूसरी जातिका, दोनों राजा समान हैं। चाहे स्वजातीय हो और चाहे विजातीय, सुशासन करनेसे दोनों समान हैं। इसका क्या ठीक कि स्वजातीय राजा सुशासन करेगा और विजातीय राजा सुशासन न करेगा? यदि इसका निश्चय नहीं है तो फिर हम स्वजातीय राजाके लिए क्यों जान दें? राज्य राजाकी सम्पत्ति है। वह उसे अपने अधिकारमें रख सके तो रक्खे। हमारे लिए स्वजातीय विजातीय दोनों समान हैं। कोई हमारी आयसे छट्ठा हिस्सा 'कर' लेनेमें एक कौड़ीकी रिआयत न

करेगा और कोई चोरको पुरस्कार न देगा। चाहे जो राजा हो, हम उसके लिए कुछ आपत्ति न करेंगे।"*

हम इस समय स्वतन्त्रता-प्रिय अँगरेजोंके निकट शिक्षा प्राप्त करके इन सब बातोंके भ्रमको जान रहे हैं। किन्तु किसी जातिका दूसरी जातिके द्वारा शासन होना अस्वाभाविक भी नहीं है—इसकी भ्रान्तिका सहजमें अनुमान भी नहीं किया जा सकता। प्रकृतिके अनुसार कोई जाति असभ्यताके समयसे ही स्वातन्त्र्यप्रिय है और कोई जाति सुसभ्य होकर भी उसके प्रति आस्था-रहित है। इस संसारमें अनेक स्पृहणीय वस्तुयें हैं। किन्तु सब लोग सभी चीजोंको पानेकी चेष्टा नहीं करते। धन और यश दोनों ही स्पृहणीय पदार्थ हैं। किन्तु साधारणतः हम देख पाते हैं कि कोई धनसञ्चयमें ही लगा हुआ है, यशका उसे कुछ भी खयाल नहीं, और दूसरा आदमी यशको चाहता है, यशके लिए धन लुटानेमें उसे कुछ भी संकोच नहीं। मोहन धनसञ्चयको ही अपने जीवनका व्रत बनाकर कृपणता, नीचता आदि दोषोंसे यशकी हानि कर रहा है और सोहन अमित धन लुटाकर उदारता आदि गुणोंसे यशका सञ्चय कर रहा है। मोहन भ्रान्त है या सोहन, इसका निर्णय करना सहज नहीं है। कमसे कम यह निश्चय है कि दोनोंमेंसे किसीका कार्य स्वभावविरुद्ध नहीं है। इसी रह ग्रीक लोग

---

* हम यह नहीं कहते कि भारतमें कभी कोई स्वातन्त्र्यप्रिय जाति नहीं थी। जिन्होंने टाड-राजस्थानमें मेवाड़के राजपूतोंकी अपूर्व कथायें पढ़ी हैं वे जानते हैं कि राजपूतोंके समान स्वतन्त्रताके लिए उन्मत्त जाति पृथ्वीपर दूसरी नहीं देख पड़ी। उस स्वातन्त्र्य-प्रियताका फल भी बड़ा विचित्र देख पड़ता है। मेवाड़ एक क्षुद्रराज्य होकर भी छः सौ वर्ष तक मुसलमानी साम्राज्यके बीचमें स्वाधीन हिन्दूराज्यकी राजपताका उड़ाता रहा। अकबर बादशाहका बल और कौशल भी मेवाड़का ध्वंस नहीं कर सका। अभीतक उदयपुरका राजवंश पृथ्वीपर प्राचीन राजवंश कहकर प्रसिद्ध है। किन्तु अब उसका वह दिन नहीं है। वह राम भी नहीं हैं, और वह अयोध्या भी नहीं है। ऊपर हमने जो कहा है वह सर्वसाधारण हिन्दुओंके विषयमें ठीक है।

स्वाधीनताप्रिय हैं, हिन्दू लोग स्वाधीनताप्रिय नहीं हैं—वे शान्ति सुखके अभिलाषी हैं । यह केवल जातीय स्वभावकी विचित्रताका फल है । इसमें विस्मय करनेकी कोई बात नहीं है ।

किन्तु बहुत लोग यह बात नहीं समझते । हिन्दुओंके स्वाधीन होने और स्वाधीनता लाभके लिए उत्सुक न होनेके कारण वे यह अनुमान करते हैं कि हिन्दूलोग दुर्बल (कमजोर) हैं, लड़ाईसे डरते हैं, स्वाधीनता प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं । वे यह नहीं समझते कि हिन्दूलोग साधारणतः स्वाधीनता पानेकी अभिलाषा और यत्न ही नहीं करते। अगर वे इसकी अभिलाषा या यत्न करते तो प्राप्त कर सकते थे।

हम यह नहीं कहते कि स्वतन्त्रतापर अश्रद्धा केवल आधुनिक हिन्दुओंका स्वभाव है। यह हिन्दू जातिका सदाका स्वभाव जान पड़ता है । जो लोग यह समझते हैं कि हिन्दू लोग सातसौ वर्षसे स्वतन्त्रताहीन होकर इस समय स्वतन्त्रताकी आकांक्षासे शून्य हो गये हैं, उनका अनुमान ठीक नहीं है। संस्कृतके साहित्यमें भी कहीं ऐसा कुछ नहीं मिलता कि उससे प्राचीन हिन्दुओंको स्वाधीनताके लिए प्रयास करनेवाला सिद्ध किया जा सके। पुराण-उपपुराण--काव्य--नाटक आदिमें कहीं स्वाधीनताका गुण-गान नहीं है। मेवाड़के सिवा और कहीं नहीं देखा जाता कि कोई हिन्दू-समाज स्वतन्त्रताकी आकांक्षासे किसी काममें प्रवृत्त हुआ हो। राजाका राज्य-सम्पत्तिकी रक्षाके लिए यत्न, वीरका वीरदर्प, क्षत्रियका युद्ध करनेका प्रयास—इन बातोंके बहुतसे उल्लेख देखे जाते हैं। किन्तु स्वतन्त्रता पानेकी आकांक्षा इनके बीचमें नहीं है। स्वातन्त्र्य, स्वाधीनता, ये सब नई बातें हैं।

भारतवर्षीय लोगोंकी इस प्रकार स्वतन्त्रताके प्रति स्वभावसिद्ध अवहेलाके कारणका अनुसन्धान करना ऐसा नहीं कि जाना न जा सके। भारतवर्षकी भूमिकी उपजाऊ शक्ति और वायुमें तापकी अधिकता आदि इसके गौण कारण हैं । पृथ्वी उपजाऊ है, देश सब सामग्रियोंसे परिपूर्ण है, थोड़े परिश्रमसे निर्वाह हो जाता है । लोगोंको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, इससे यहाँके लोगोंको अवकाश भी यथेष्ट है। शारीरिक

परिश्रमसे अधिक अवकाश मिलनेपर सहजमें ही मनकी गति आभ्यन्तरिक होती है। ध्यान और चिन्तनकी अधिकता होती है। उसका एक फल कवित्त्व और जगतके तत्त्वोंमें पाण्डित्य है। इसी कारण हिन्दूलोग थोड़े ही समयमें अद्वितीय कवि और दार्शनिक हो गये हैं। किन्तु मनकी आभ्यन्तरिक गतिका दूसरा फल बाह्य सुखोंके प्रति आस्थाका न होना है। बाह्य सुखोंके प्रति आस्था न होनेसे निश्चेष्टभाव आ जाता है। स्वतन्त्रताके प्रति आस्थाका न होना इस स्वाभाविक निश्चेष्टताका एक अंशमात्र है। आर्योंके धर्मतत्त्व और दर्शनशास्त्रमें यह चेष्टाहीनताका भाव सर्वत्र विद्यमान है। क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या पौराणिक, सभी धर्म इसी निश्चेष्टताकी संवर्द्धनासे परिपूर्ण हैं। वेदसे वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है। उनके अनुसार लय या भोगकी निवृत्ति ही मोक्ष है—निष्काम भाव ही पुण्य है। बौद्धधर्मका निर्वाण ही मुक्ति है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि हिन्दूजाति सदासे स्वतन्त्रताका आदर करना नहीं जानती, तो यहाँ मुसलमानोंकी अमलदारी होनेके पहले साढ़े पाँच हजार वर्षतक उन्होंने क्यों यत्नपूर्वक विजातियोंको विमुख करके स्वाधीनताकी रक्षा की? विजातीय लोग कभी सहजमें यहाँसे हटे न होंगे—बड़ी मुश्किलसे यह काम हुआ होगा। जिस सुखके प्रति आस्था न थी, उसके लिए हिन्दू-समाजने इतना कष्ट क्यों स्वीकार किया था?

इसका उत्तर यह है कि इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता कि हिन्दू-समाजने कभी शक यवन आदिको विमुख करनेके लिए विशेष यत्न किया था। हिन्दू नरपतियोंने अपनी राज्य-सम्पत्तिकी रक्षाके लिए यत्न किया था। उनकी संग्रह की हुई सेना युद्ध करती थी; जब हो सकता था, शत्रुको विमुख करती थी। इसीसे देशकी स्वतन्त्रताकी रक्षा होती थी। इसके सिवा इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि "हम अपने देशमें विदेशीय राजा न होने देंगे" यह विचार कर साधारण लोगोंने कभी उद्योग किया हो या उत्साह दिखाया हो। बल्कि इसके विरुद्ध होना ही यथार्थ जान पड़ता है। जब समर-लक्ष्मीकी कोपदृष्टिके प्रभावसे हिन्दू राजा या हिन्दू सेनापति

रणमें मारा गया तभी हिन्दूसेना युद्ध छोड़कर भाग गई—फिर युद्धके लिए एकत्र नहीं हुई। फिर किसके लिए युद्ध करती? जब राजा मर गया या अन्य कारणसे उसने राज्य-रक्षाकी चेष्टा छोड़ दी, तभी हिन्दुओंका युद्ध समाप्त हो गया। फिर किसीने उस राजाके स्थानपर खड़े होकर स्वतन्त्रताकी रक्षाका उपाय नहीं किया; साधारण समाजसे अरक्षित राज्यकी रक्षाका उद्योग नहीं हुआ। जब भाग्यके फेरसे यवन, ईरानी, शक या बाल्हीक किसी प्रदेश-खण्डके राजाको रणमें हरा कर उसके सिंहासनपर बैठे, तभी प्रजाने अपने पहले स्वामीकी तरह उन अनार्य राजाओंका भी आदर किया। राज्यके छीननेमें उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। तीन हजार वर्षसे अधिक समय तक, आर्योंके साथ आर्यजातीय, आर्यजातीयोंके साथ भिन्नजातीय, भिन्नजातीयोंके साथ भिन्नजातीय—मगध (बिहार) के साथ कान्यकुब्ज, कान्यकुब्जके साथ दिल्ली, दिल्लीके साथ लाहौर, हिन्दुओंके साथ पठान, पठानोंके साथ मुगल—लड़-झगड़कर सदा समरकी आग जलाकर देशको नष्टभ्रष्ट करते खाकमें मिलाते रहे हैं। किन्तु इन सब युद्धोंमें केवल राजाके साथ राजाकी लड़ाई होती थी। साधारण हिन्दू समाजने कभी किसीकी ओर होकर किसीसे युद्ध नहीं किया। हिन्दू राजाओं अथवा हिन्दुस्तानके राजाओंको बारबार भिन्न जातियोंने जीता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण हिन्दू समाज कभी किसी अन्य जातिके द्वारा जीता गया है। क्यों कि साधारण हिन्दू जातिने कभी किसी अन्य जातिके साथ युद्ध ही नहीं किया।

इस विचारमें हिन्दू जातिकी बहुत दिनोंकी पराधीनताका दूसरा कारण प्रकट हो गया। उस कारणको हिन्दूसमाजकी फूट, समाजमें जातीय भावकी स्थापनाका अभाव, जातिहितैषिताकी कमी, आदि चाहे जो कुछ कहिए। हम यहाँपर विस्तारके साथ उसे समझानेकी चेष्टा करते हैं।

मैं हिन्दू हूँ, तुम हिन्दू हो, यह हिन्दू है, वह हिन्दू है, और भी लाखों हिन्दू हैं। इन लाखों हिन्दुओंकी जिसमें भलाई है, उसीमें मेरी भी भलाई है। जिसमें उनका मंगल नहीं है उसमें मेरा भी मंगल नहीं है। अतएव सब हिन्दुओंका जिसमें मंगल हो वही मेरा कर्त्तव्य है और किसी भी हिन्दूका

जिससे अमंगल हो वही अकर्त्तव्य है। जैसे मेरा इस प्रकार कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य है वैसे ही तुम्हारा भी है, इसका भी है, उसका भी है, सभी हिन्दूओंका है। जब सभी हिन्दुओंका एक ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य है, तब सब हिन्दुओंको चाहिए कि एक सलाह करके, एकमत होकर, मेलके साथ हरएक कार्य करें। यह ज्ञान जाति (नेशन) की स्थापनाका प्रथम भाग है।

हिन्दूजातिके अलावा पृथ्वीपर अन्य अनेक जातियाँ हैं। उनके हरएक भलाईके कामसे हमारी भलाई होना असंभव है। बहुत स्थानोंमें उनके मंगलसे हमारे अमंगलकी ही संभावना है। जिस जगह उनके मंगलसे हमारा अमंगल है, उस जगह हम वही करेंगे जिसमें उनका मंगल न हो। इसमें परजाति-पीड़न करना होगा तो हम वह भी करेंगे। जिस तरह उनके मंगलसे हमारे अमंगलकी संभावना है, वैसे ही हमारे मंगलसे उनके अमंगलकी संभावना है। हो तो हो, हम उसके लिए अपनी जातिकी भलाई करनेसे निवृत्त न होंगे। दूसरी जातिका अमंगल करके अपनी जातिकी भलाई करनी होगी तो हम वह भी करेंगे। जातिकी स्थापनाका यह दूसरा भाग है।

किन्तु देखा जाता है कि इस प्रकारकी मनोवृत्ति निष्पाप शुद्धभाव कहकर स्वीकार नहीं की जा सकती। इसमें भारी दोषपूर्ण विकार है। उस विकारसे जातिके सर्वसाधारणको ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि पराई जातिके मंगल मात्रसे अपनी जातिका अमंगल है, और पर-जातिके अमंगलमात्रसे अपनी जातिका मंगल है। इसी कुसंस्कारके वशवर्त्ती होकर यूरोपकी जातियोंने अनेक दुःख भोगे हैं। उन्होंने वृथा ही अनेक बार युद्धकी आग जलाकर यूरोपको उसमें दग्ध किया है।

किन्तु स्वजाति-प्रतिष्ठा चाहे भली हो चाहे बुरी, जिस जातिमें यह बलवती होती है वही जाति अन्य जातियोंकी अपेक्षा प्रबलता प्राप्त करती है। आजकल यूरोपमें इस ज्ञानने विशेष प्रधानता प्राप्त की है और इसीके प्रभावसे वहाँ अनेक विप्लव होते देख पड़ते हैं। इसीके प्रभावसे इटलीमें एक-राज्यकी स्थापना हुई है। इसीके प्रभावसे विषम प्रतापशाली नवीन जर्मन-साम्राज्यकी स्थापना हुई है (और अभी अभी एक जगद्व्यापी घोर युद्ध चल कर समाप्त हुआ है)। और भी क्या क्या होगा, सो कहा नहीं जा सकता।

हम यह नहीं कहते कि भारतवर्षमें, किसी भी समयमें, यह जाति-प्रतिष्ठा थी ही नहीं। यूरोपके पण्डितोंने यह निश्चय किया है कि आर्यजातिके लोग सदासे भारतवर्षके रहनेवाले नहीं हैं। अन्यत्रसे भारतमें आकर उन्होंने उसपर अधिकार किया है। पहले आर्योंने जब जय प्राप्त की, तब वेद आदिकी सृष्टि हुई, और उसी समयको पण्डित लोग वैदिक काल कहते हैं। वैदिक मन्त्र आदिमें इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं कि वैदिक कालमें और इसके कुछ उपरान्त भी आर्य लोगोंमें जातिप्रतिष्ठाका भाव विशेष प्रबल था। उस कालके समाजके नियामक ब्राह्मणोंने जिस प्रकार समाज-शृंखला स्थापित की थी, उससे भी जातिप्रतिष्ठाके भावका परिचय प्राप्त होता है। आर्यवर्णोंमें और शूद्रोंमें जो विषम भेद देख पड़ता है—आर्यवर्णों और शूद्रोंके शासनमें जो आकाश-पातालका अन्तर देख पड़ता है, वह भी जाति-प्रतिष्ठाके भावका ही फल है। किन्तु क्रमशः आर्य-वंश विस्तृत हो पड़ा और तब वह जाति-प्रतिष्ठाका भाव नहीं रहा। आर्यवंशके लोगोंने विस्तृत भारतवर्षके अनेक प्रदेशोंपर अधिकार करके स्थान स्थानपर एक एक खण्ड-समाजकी स्थापना की। भारतवर्ष इस प्रकारके बहुतसे खण्ड-समाजोंमें बँट गया। समाज-भेद, भाषा-भेद, आचार-व्यवहारका भेद, अनेक भेद अन्तको जाति-भेदके रूपमें परिणत हो गये। बाल्हीकसे पौण्ड्र तक, काश्मीरसे चोल और पाण्ड्य तक, सारी भारतभूमि मधुमक्खियोंसे परिपूर्ण शहदके छत्तेकी तरह अनेक जाति और समाजोंसे परिपूर्ण हो गई। अन्तको कपिलवस्तुके राजकुमार शाक्यसिंहने एक अभि-नव धर्मकी सृष्टि की। अन्यान्य भेद तो मौजूद ही थे, धर्मभेद भी उत्पन्न हो गया। देशभेद, भाषाभेद, राज्यभेद, धर्मभेदके आगे एकजातीयता कहाँ टिक सकती थी? सागरके भीतरके मत्स्यदलकी तरह भारतवर्षके लोग एकतासे शून्य हो गये। उसके बाद मुसलमान आये। मुसलमानोंका वंश भी यहाँ बढ़ने लगा। उसके बाद सागरकी लहरके ऊपर लहरकी तरह नये नये मुसलमान-सम्प्रदाय पाश्चात्य पर्वतमाला पार होकर आने लगे। इस देशके हजारों आदमी राजाकी कृपाके लोभसे या राजाके द्वारा सताये जानेके डरसे मुसलमान होने लगे। अब भारतवर्षके निवासियोंमें हिन्दू

और मुसलमान दो जातियाँ हो गईं। हिन्दू, मुसलमान, मुगल, पठान, राजपूत, महाराष्ट्र एकत्र काम करने लगे। तब जातिमें एका कैसे रहता? एकेका ज्ञान किस तरह रहता?

इस प्रकार भारतवर्षमें अनेक जातियाँ हो गईं। निवासस्थानके भेदसे, भाषाके भेदसे, वंशके भेदसे, धर्मके भेदसे अनेक जातियाँ हो गईं। बंगाली, पंजाबी, मराठे, राजपूत, जाट, हिन्दू, मुसलमान, इनमें कौन किसके साथ एका करता? धर्मका मेल है तो वंशका मेल नहीं है, वंशका मेल है तो भाषाका मेल नहीं है, भाषाका मेल है तो निवासस्थानका मेल नहीं है। राजपूतों और जाटोंका एक धर्म है, तो भिन्न वंशमें उत्पत्ति होनेके कारण वे भिन्नजातीय हैं। बंगाली और बिहारी अगर एक वंशके हैं, तो उनकी भाषायें भिन्न हैं। केवल यही नहीं है। भारतका ऐसा भाग्य है कि जहाँ किसी प्रदेशके लोग सब बातोंमें एक हैं—जिनका धर्म, भाषा, जाति, देश सब एक है—वहाँ उनमें भी जातिकी एकताका ज्ञान नहीं है। बंगालियोंमें बंगाली जातिकी एकताका बोध नहीं है, सिखोंमें सिखजातिकी एकताका बोध नहीं है। इसका भी विशेष कारण है। बहुत समयतक भिन्न जातियाँ जब एक बड़े साम्राज्यके बीचमें रहती हैं, तब क्रमशः जाति-ज्ञान या जातीयताका भाव लुप्त हो जाता है। भिन्न भिन्न नदियोंकी जल-राशि जब समुद्रमें आकर मिल जाती है, तब उसमें यह नहीं जाना जा सकता कि अमुक नदीका अमुक जल है। वैसे ही बृहत् साम्राज्यके अन्तर्गत भिन्नजातियोंका भी वही हाल होता है। उनका अलगाव जाता रहता है, किन्तु ऐक्य नहीं उत्पन्न होता। रोमन साम्राज्यके भीतर आई हुई जातियोंकी ऐसी ही दशा हुई थी। हिन्दुओंकी भी वही दशा हुई है। भारतवर्षमें अनेक कारणोंसे बहुत दिनोंसे जाति-प्रतिष्ठा उठ गई है। जाति-प्रतिष्ठाके उठ जानेके कारण ही कभी हिन्दू समाजके द्वारा किसी जातीय कार्यका संपादन नहीं हुआ। जाति-प्रतिष्ठा उठ जानेके कारण ही हिन्दुओंके राज्यासनपर बिना आपत्तिके हिन्दू-समाजने सब जातिके राजाओंको बिठा लिया है। इसी कारण हिन्दू समाजने कभी स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेके लिए उँगली भी नहीं उठाई।

इतिहासमें उल्लिखित समयके बीच केवल दो बार हिन्दू समाजमें जाति-प्रतिष्ठाका उदय होते देखा गया है। एक बार महाराष्ट्रप्रदेशमें

शिवाजीने इस महामन्त्रका पाठ किया था। उनके सिंहनादसे महाराष्ट्र प्रदेश जग उठा था। उस समय मराठोंमें भ्रातृभाव देख पड़ा था। इसी महा-मन्त्रके बलसे मराठोंने उस मुगल-साम्राज्यको नष्ट कर दिया, जिसपर पहले किसीने विजय नहीं पाई थी। सारा भारत मराठोंके हाथमें आ गया था। भारतके सभी राजाओंने मराठोंके चरणोंमें सिर झुकाया था।

दुबारा रनजीतसिंहने 'खालसा' का महामन्त्र पढ़कर ऐसा ही चमत्कार दिखाया था। जातीय बन्धन दृढ़ होनेपर पठानोंका अपना देश भी कुछ कुछ हिन्दुओंके हाथमें आगया था। सतलजके उसपार सिंहनाद सुनकर निर्भीक अँगरेज भी शंकित हो उठे थे। भाग्यवश वह सिंह मर गया। लार्ड डलहौसीने होशियारीके साथ 'खालसा' के महामन्त्रका चमत्कार मिटा दिया। किन्तु रामनगर और चिनियानवालाकी लड़ाई इतिहासमें अंकित हो गई।

जब किसी प्रदेश-खण्डमें जाति-प्रतिष्ठाका उदय होनेसे इतना हुआ था, तब सम्पूर्ण भारत अगर एक-जाति बनकर जातीय भावसे परिपूर्ण हो उठता, तो क्या नहीं हो सकता था?

अँगरेज लोग भारतवर्षके परम उपकारी हैं। अँगरेज लोग हमें नई नई बातें सिखा रहे हैं। जो हम कभी जानते न थे वही जना रहे हैं, जो हमने कभी देखा सुना और समझा नहीं था वही हमको दिखा, सुना और समझा रहे हैं। जिस मार्गमें हम कभी चले नहीं, उस मार्गमें किस तरह चलना चाहिए, सो हमको सिखा रहे हैं। इन शिक्षाओंमें अनेक शिक्षायें अमूल्य हैं। जो अमूल्य रत्न हमको अँगरेजोंके ज्ञानभाण्डारसे मिले हैं उनमें दोका इस प्रबन्धमें उल्लेख किया गया है—एक स्वातन्त्र्यप्रियता और द्वितीय जाति-प्रतिष्ठा *। हिन्दू इन्हें पहले नहीं जानते थे।



---

* इस प्रबन्धमें जहाँ जाति शब्द आया है वहाँ उसका अर्थ Nationality या Nation समझना चाहिए।

भारतकी स्वाधीनता और पराधीनता।

मनुष्यकी ऐसी दुर्दशा कभी हो नहीं सकती कि उसमें शुभ कुछ न देख पड़े। हमारे भारी दुर्भाग्यमें भी ढूँढ़नेसे कुछ न कुछ भलाई पाई जा सकती है। जो अशुभके भीतर शुभका अनुसन्धान करके उसकी आलोचना करता है, वही विज्ञ है। दुःखके दिनोंमें इस बातकी आलोचना करनेमें कुछ सुख है कि दुःख भी केवल दुःख ही नहीं है।

भारतवर्ष पहले स्वाधीन था—अब कई सौ वर्षोंसे पराधीन है। भारतवर्षके नई पौधके लोग इसे घोरतर दुःख समझते हैं। हमारी इच्छा है कि एक बार उस प्राचीन स्वाधीनता और नवीन पराधीनताकी तुलना करके देखें। देखें कि दुःख क्या है और सुख क्या है।

पहले इसपर विचार करनेकी आवश्यकता जान पड़ती है कि स्वाधीनता पराधीनता आदि शब्दोंका तात्पर्य क्या है। हम इस समय प्राचीन भारतवर्षकी तुलना करने बैठे हैं। तुलनाका उद्देश्य है न्यूनाधिकता या तारतम्यका निर्देश करना। किन्तु किस विषयका तारतम्य हमारे अनुसन्धानका विषय है? प्राचीन भारतवर्ष स्वाधीन था और आधुनिक भारत पराधीन है—यह बात कहनेसे क्या लाभ है? हमारी समझमें इस प्रकारकी तुलनाका एक मात्र उद्देश्य यह होना चाहिए कि प्राचीन भारतवर्षमें लोग सुखी थे या आधुनिक भारतवर्षमें अधिक सुखी हैं।

हो सकता है कि इतनेमें हमारे कुछ पाठक हमपर खीझ उठे हों। स्वाधीनतामें सुख है, इस सिद्धान्तमें संशय ही क्या है? जो संशय करता है वह नासमझ, नराधम इत्यादि है। हम स्वीकार करते हैं। किन्तु यह प्रश्न करनेसे कि स्वाधीनता पराधीनताकी अपेक्षा क्यों अच्छी है, ठीक उत्तर मिलना कठिन है।

इस देशके लोगोंने अँगरेजी पढ़कर इस विषयमें दो बातें सीखी हैं—'Independence' और 'Liberty' इनका अनुवाद 'स्वाधीनता' और 'स्वतन्त्रता' हो सकता है। बहुत लोगोंकी धारणा है कि ये दोनों शब्द एक ही अर्थ सूचित करते हैं। इन शब्दोंसे स्वजातीय शासनके अधीन

अवस्थाका बोध होता है, यही सर्वसाधारणकी प्रतीति है। राजा यदि दूसरे देशका हो तो उसकी प्रजा पराधीन और वह राज्य परतन्त्र है। इस कारण, इस समय अँगरेजोंके शासनाधीन भारतवर्षको पराधीन और परतन्त्र कहा जाता है। इस धारणाकी जड़ क्या है, इसीपर पहले विचार करना उचित है।

महारानी विक्टोरियाको अँगरेज-कन्या कहा जा सकता है। किन्तु उनके पूर्वपुरुष प्रथम या द्वितीय जार्ज अँगरेज नहीं थे। वे जर्मन थे। तृतीय विलियम पोर्च्युगीज थे। बोनापार्ट कार्सिकाय इटालियन थे। स्पेनके भूत-पूर्व प्राचीन बूर्बोवंशके राजा फ्रेंच थे। रोम-साम्राज्यके सिंहासनपर अनेक बर्बर जातिके सम्राट् बैठे थे। इस प्रकारकी सैकड़ों घटनाओंका उल्लेख किया जा सकता है। देखा जाता है कि इन सब राज्योंमें उस उस समय भिन्न जातिके राजा थे। अच्छा, उस उस समय ये सब राज्य पराधीन या परतन्त्र कहे जा सकते हैं या नहीं? कोई नहीं कह सकता कि ये राज्य उस उस समयमें पराधीन थे। यदि प्रथम जार्जके शासनाधीन इँग्लैंडको या ट्रेजन-शासित रोमको पराधीन नहीं कहा जा सकता, तो शाहजहाँके शासनाधीन भारतवर्षको या अलीवर्दीखाँके शासनाधीन बंगालको पराधीन क्यों कहते हैं?

देखा जाता है कि शासनकर्त्ता भिन्न जातिका होनेसे ही राज्य परतन्त्र नहीं होता। इस बातके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि शासन-कर्त्ताके स्वजातीय होनेसे ही राज्य स्वतन्त्र नहीं होता। वाशिंगटनके किये युद्धके पहले अमेरिकाके शासनकर्त्ता स्वजातीय थे। उपनिवेशों (कलोनियों) भरकी प्रथमावस्थामें शासनकर्त्ता स्वजातीय हुआ करता है। किन्तु उस अव-स्थामें उपनिवेशोंको कभी स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

तो फिर परतन्त्र किसे कहते हैं?

यह निश्चित है कि अँगरेजोंके अधीन आधुनिक भारत परतन्त्र राज्य है। रोमन लोगोंद्वारा विजित ब्रिटेनसे लेकर सीरिया तक सब राज्य परतन्त्र थे। अलजियर्स या जमेका परतन्त्र राज्य हैं। ये सब राज्य क्यों परन्तत्र हैं?

ये सब एक एक अलग राज्य नहीं हैं, भिन्न देशवासी राजाके राज्यका एक अंशमात्र हैं। भारत-सम्राट् भारतवर्षमें नहीं रहते। भारतवर्षका बादशाह भारतवर्षमें नहीं, अन्य देशमें है। जिस देशका राजा अन्य देशके सिंहासन-पर अवस्थित और अन्य देशका रहनेवाला हो, वही देश परतन्त्र है।

दो राज्योंका एक राजा होनेसे उनमेंसे एक देश परतन्त्र और एक देश स्वतन्त्र होगा। जिस देशमें राजा रहता है वह देश स्वतन्त्र है और जिस देशमें राजा नहीं रहता वही देश परतन्त्र है।

इस प्रकारकी परिभाषा करनेमें कुछ आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। इँग्लैंडके राजा प्रथम जेम्स स्काटलैंड और इँग्लैंड दो राज्योंके अधीश्वर होकर स्काटलैंड छोड़कर इँग्लैंडमें रहने लगे। स्काटलैंड क्या इँग्लैंडको राज्य देकर परतन्त्र हो गया ? बाबरशाह, भारतको जीत कर, दिल्लीमें सिंहासन स्थापित कर, वहाँसे पैतृक-राज्यका शासन करने लगे। उनका अपना देश क्या भारतवर्षके अधीन हो गया ? प्रथम जार्ज इँग्लैंडके सिंहासनको पाकर वहीं रहकर पैतृक-राज्य हनोबरका शासन करने लगे। तो क्या हनोबर उस समय परतन्त्र हो गया था ?

परिभाषाके अनुरोधसे हमको कहना पड़ेगा कि प्रथम जेम्स, प्रथम जार्ज या बाबरशाहका पैतृक-राज्य परतन्त्र हो गया था। किन्तु परतन्त्र भर हो गये थे, पराधीन नहीं हुए थे। हम Independence शब्दके बदले 'स्वतन्त्रता' और Liberty शब्दकी जगह 'स्वाधीनता' का और इनके अभावसूचक स्थानोंमें इनके अभाव-सूचक शब्दोंका प्रयोग करते हैं।

तो परतन्त्रता और पराधीनतामें भेद क्या है ? अथवा स्वतन्त्रता या पराधीनतामें भेद क्या है ?

इँग्लैंडमें राजनैतिक स्वाधीनताका एक विशेष प्रयोग प्रचलित है। हम उस अर्थका आश्रय लेनेके लिए बाध्य नहीं हैं। क्यों कि वह अर्थ इस उप-स्थित विचारके लिए उपयुक्त नहीं है। इसका जो अर्थ भारतवर्षके लोग समझते हैं हम भी वही अर्थ समझावेंगे।

दूसरे देशका आदमी किसी देशमें राजा होता है, तो एक अत्याचार होता है। जो राजाके स्वजातीय होते हैं उन्हें इस देशके लोगोंकी अपेक्षा प्रधानता प्राप्त होती है। उससे प्रजा दूसरी जातिके द्वारा पीड़ित होती है। जहाँ देशकी प्रजा और राजजातिकी प्रजामें इस तरहका तारतम्य हो, उसी देशको पराधीन कहेंगे। जो राज्य परजाति-पीड़नसे शून्य है वह स्वाधीन है।

अतएव परतन्त्र राज्यको भी कभी कभी स्वाधीन कहा जा सकता है। जैसे—प्रथम जार्जके राज्यकालमें हनोबर और मुगलोंके राज्यकालमें काबुल। ऐसे ही कभी कभी स्वतन्त्र राज्यको भी पराधीन कहा जासकता है। जैसे नार्मन लोगोंके समयमें इँग्लैंड और औरंगजेबके समयमें भारतवर्ष। हम कुतुबुद्दीनके अधीन उत्तर-भारतको परतन्त्र और पराधीन तथा अकबर-शासित भारतको स्वतन्त्र और स्वाधीन कहते हैं।

वह जो कुछ हो, प्राचीन भारत स्वतंत्र और स्वाधीन था, और आधुनिक भारतवर्ष परतन्त्र और पराधीन माना जाता है। हम पहले स्वतन्त्रता और परतन्त्रतासे जो विषमता होती है उसकी आलोचना करेंगे। उसके बाद स्वाधीनता और पराधीनताके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करेंगे। राजाके अन्यदेशवासी होनेसे दो अनिष्ट होनेकी संभावना होती है। एक तो यह कि राजाके दूर रहने पर सुशासनमें विघ्न होता है। दूसरे यह कि राजा जिस देशमें रहता है उसके प्रति उसको अधिक श्रद्धा होती है। वह उसकी भलाईके लिए दूरके राज्यकी कुछ हानिको भी स्वीकार कर सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि भारतके संबंधमें इन दोषोंकी कुछ मात्रा नहीं देख पड़ती। इसमें सन्देह नहीं कि यदि भारतसम्राटका सिंहासन कलकत्ते या दिल्लीमें होता, तो भारतवर्षकी शासनप्रणाली बहुत कुछ उत्कृष्ट होती। क्योंकि जो राजाके निकट होता है उसके प्रति राजपुरुष अधिक मन लगाते हैं। दूसरा दोष भी देखा जाता है। इँग्लैंडके गौरवके लिए अबीसीनियाका युद्ध हुआ, खर्च देना पड़ा भारतवर्षको। 'होम चार्जेज' कहकर बजटमें जो खर्चकी 'मद' लिखी जाती है, उसमें इँग्लैंडके लिए

इसी तरह भारतवर्षका क्षति-स्वीकार देखा जाता है। इसी तरह और भी बातें हैं।

राजाके दूर रहनेके कारण आधुनिक भारतवर्षके सुशासनमें विघ्न अवश्य होता है, किन्तु राजाके स्वेच्छाचारी होनेसे सुशासनमें जिन विघ्नोंके संघटित होनेकी संभावना होती है, वे विघ्न नहीं होते। पहलेके जमानेमें ऐसा होता था कि कोई राजा विषयी है—महलोंमें ही रहता है, राज्यकी दुर्दशा हो गई। कोई राजा निष्ठुर है, कोई राजा धनका लोभी है। प्राचीन भारतमें इस तरहकी भारी असुविधायें होती थीं। इस समय दूर-स्थित राजा या रानीमें यदि इस प्रकारका कोई दोष आ भी जाय, तो उसका फल भारतवर्ष तक अपना असर नहीं डाल सकता।

दूसरे, जैसे आधुनिक भारतवर्षमें इँग्लैंडकी भलाईके लिए कभी कभी भारतको हानि उठानी पड़ती है, वैसे ही प्राचीन भारतमें राजाके आत्म-सुखके लिए राज्यको हानि उठानी पड़ती थी। पृथ्वीराजने जयचन्द्रकी कन्याको हरकर आत्म-सुखका संपादन किया। उससे भयानक युद्ध ठन गया। दोनोंमें मनोमालिन्य बढ़नेसे और दोनोंकी शक्ति क्षीण होनेसे दोनों ही मुसलमानोंके शिकार बने और उनके इस कृत्यसे प्रजाको धनहानि, जनहानि, प्राणहानि तक उठानी पड़ी। आधुनिक भारतवर्षमें दूरवासी राजाके आत्मसुखके अनुरोधसे इस प्रकारका कोई अनिष्ट होनेकी संभावना नहीं है।

किन्तु यह जो कुछ कहा गया वह परतन्त्रताके सम्बन्धमें ही कहा गया है। हम पहले ही परतन्त्रता और पराधीनतामें अन्तर दिखा चुके हैं। भारतमें अँगरेजोंकी प्रधानता है, देसी प्रजामात्र अँगरेजोंका दबाव मानती और है अँगरेजोंके सुखके लिए भारतवासियोंको कुछ कुछ अपने सुखकी हानि भी स्वीकार करनी पड़ती है, इस बातको इस देशका कोई आदमी अस्वीकार न करेगा। इस प्रकार एक जातिके ऊपर दूसरी जातिकी प्रधानता प्राचीन भारतमें नहीं थी। यह बात तो नहीं थी, किन्तु इसीके समान वर्ण-विभागका पीड़न था। इस बातको कोई अस्वीकार न करेगा कि

चिरकालसे भारतवर्षकी साधारण प्रजा शूद्र है। ब्राह्मण आदि तीनों श्रेष्ठ वर्ण शूद्रोंकी अपेक्षा बहुत कम थे। इन तीनों वर्णोंमें ब्राह्मण और क्षत्रिय देशके शासक थे। इन बातोंको यहाँपर जरा विस्तारके साथ लिखनेकी आवश्यकता जान पड़ती है।

लोगोंका विश्वास है कि प्राचीन भारतमें केवल क्षत्रिय ही राजा थे। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। राज-काजके दो विभाग थे। युद्ध आदिका काम क्षत्रियोंके ऊपर था और राजव्यवस्थानिर्वाचन, न्याय-विचार इत्यादिका काम ब्राह्मणोंके हाथमें था। इस समय जैसे सिविल और मिलिटरी ये दो राजकाजके विभाग हैं, उस समयकी व्यवस्था भी कुछ ऐसी ही थी। ब्राह्मण लोग सिविल कर्मचारी थे और क्षत्रिय लोग मिलिटरी थे। इस समय भी जैसे मिलिटरीकी अपेक्षा सिविल कर्मचारियोंकी अधिक प्रधानता है, वैसे ही उस समय भी थी। राजपुरुषोंमें राजपदवी क्षत्रियोंको ही दी जाती थी, किन्तु कार्यतः उनपर भी ब्राह्मणोंका दबाव था, या यों कहो कि वे भी ब्राह्मणोंके मातहत थे। यह बात भी नहीं है कि प्राचीन भारतमें सदा क्षत्रिय ही राजा रहे हों। जान पड़ता है, पहलेके समयमें क्षत्रिय ही राजा थे; किन्तु बौद्ध युगमें मौर्यआदि संकरजातीय राजवंश भी देख पड़ते हैं। चीनी यात्री व्हेन्त्सांग सिन्धु-पारमें ब्राह्मण राजा देख गया था। अन्यत्र भी ब्राह्मणोंने 'राजा' नाम धारण कर लिया था। मध्यकालके अधिकांश राजा ही राजपूत थे। राजपूत लोग क्षत्रियवंशसे उत्पन्न संकरजाति हैं। प्राचीन भारतमें क्षत्रियोंकी प्रधानता चिरकाल तक अप्रतिहत नहीं रही, ब्राह्मणोंका गौरव एक दिनके लिए भी कम नहीं हुआ। वेदविद्वेषी बौद्धोंके समयमें भी राजकाज ब्राह्मणोंके हाथसे दूसरोंके हाथ नहीं गया। क्यों कि वे ही पण्डित, सुशिक्षित और उस कार्य करनेकी शक्ति रखनेवाले थे। अतएव प्राचीन भारतमें ब्राह्मण लोग ही असलमें राजपुरुष कहलाने योग्य थे। सुविज्ञ लेखक बाबू ताराप्रसाद चट्टोपाध्यायने बंगाल-मेगजीनमें, एक प्रबन्धमें, ठीक ही लिखा है कि ब्राह्मण ही प्राचीन भारतके अँगरेज थे।

अब प्रश्न यह कि आधुनिक भारतवर्षके देसी और विलायती लोगोंमें जो वैषम्य देख पड़ता है वह क्या प्राचीन भारतके ब्राह्मण और शूद्रोंके वैषम्यकी अपेक्षा बहुत अधिक है?

भिन्न जातीय राजा होनेसे जो जाति-पीड़ा उत्पन्न हुआ करती है, वह दो तरहसे होती है एक तो राजव्यवस्थाके नियममें लिखा रहता है कि राजाके स्वजातीय लोगोंके लिए यह बात इस तरह होगी और देसी लोगोंके लिए और तरह होगी । दूसरे स्वजाति-पक्षपाती राजाकी इच्छासे होनेवाली राजकृपासे जाति-पीड़ा होती है। राजा अपनी जातिसे रिआयतका बरताव करता है और स्वजातिके पक्षपातके मारे राजकाजमें अपनी ही जातिवालोंको नियुक्त करता है। अँगरेजोंके शासनाधीन भारतमें और ब्राह्मण-शासित भारतमें ये दोनों दोष किस प्रकारसे वर्तमान थे और हैं, सो नीचे लिखा जाता है।

१—अँगरेजोंकी बनाई राजव्यवस्थाके अनुसार देसी अपराधीके लिए एक विचारालय है और विलायती अपराधीके लिए दूसरा विचारालय है। देसी लोगोंको अँगरेज विचारक दण्ड दे सकता है, किन्तु अँगरेज अपराधीको देसी विचारक दण्ड नहीं दे सकता। इसके सिवा व्यवस्थामें और अधिक वैषम्य नहीं है। किन्तु ब्राह्मणोंके शासनकालमें इससे कहीं अधिक वैषम्य देखा जाता है। अँगरेजोंके लिए अलग विचारालय हैं; लेकिन कानून जुदा नहीं है। जैसे एक देसी आदमी अँगरेजकी हत्या करनेसे वधके योग्य है, वैसे ही अँगरेज भी अगर देसी आदमीकी हत्या करे, तो वह भी आईनके अनुसार उसी तरह वधके योग्य है। किन्तु ब्राह्मणोंके शासन-कालमें शूद्रहन्ता ब्राह्मण और ब्राह्मणहन्ता शूद्रके दण्डमें कितना वैषम्य देख पड़ता है! कौन कहेगा कि इस विषयमें प्राचीन भारतवर्षसे आधुनिक भारतवर्ष निकृष्ट है?

अँगरेजोंके राज्यमें जैसे अँगरेजको देसी आदमी दण्ड नहीं दे सकता, वैसे ही प्राचीन भारतमें शूद्र भी ब्राह्मण अपराधीको दण्ड नहीं दे सकता था।

अँगरेजोंके राज्यमें राजप्रसाद प्रायः अँगरेजोंको ही मिलता है। लेकिन किसी कदर देसी लोग भी उच्च पदोंपर हैं। ब्राह्मणोंके राज्यमें शायद शूद्रोंको इतना भी राजानुग्रह नहीं मिलता था। किन्तु जब कभी कभी शूद्र

राजसिंहासनपर बैठनेके लिए समर्थ हुए हैं तब अन्यान्य उच्च पदोंपर भी उन्होंने समय समय पर अवश्य अधिकार जमाया होगा। इस समय देखा जाता है कि प्राथमिक न्याय-विचारका काम प्रायः देसी लोगोंके ही द्वारा होता है। प्राचीन भारतके क्या प्राथमिक विचारका कार्य शूद्रोंके द्वारा होता था? हम प्राचीन भारतके सम्बन्धमें इतना कम जानते हैं कि इस प्रश्नपर कुछ निश्चित रूपसे नहीं कह सकते। जान पड़ता है, अनेक न्यायविचारकार्य ग्राम्य-पंचायतोंके द्वारा ही हुआ करते थे। किन्तु प्राचीन ग्रन्थ आदि पढ़नेसे यह जान पड़ता है कि उच्च श्रेणीके विचारक और सेनापति आदिके अन्यान्य प्रधानपद ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके ही अधिकारमें रहते थे।

बहुत लोग कहेंगे कि अँगरेजोंकी प्रधानता और ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी प्रधानतामें सादृश्यकी कल्पना अच्छी कल्पना नहीं है। क्यों कि ब्राह्मण-क्षत्रिय शूद्रपीड़क होने पर भी स्वजातीय थे—अँगरेज लोग भिन्न जातीय हैं। इसका ऐसा उत्तर देनेकी इच्छा होती है कि जो पीड़ित होता है उसके लिए स्वजातिका पीड़न और अन्य जातिका पीड़न दोनों ही समान हैं। यह तो नहीं जान पड़ता कि स्वजातीयके हाथसे मिली हुई पीड़ा कुछ मीठी होती हो, और विजातीयके हाथसे मिली हुई पीड़ा कुछ तीखी लगती हो। किन्तु हम यह उत्तर देना नहीं चाहते। यदि स्वजातीयकी दी हुई पीड़ामें किसीको प्रीति हो, तो हमको उसमें कुछ आपत्ति नहीं है। हमारे कहनेका यही उद्देश्य है कि आधुनिक भारतकी जाति-प्रधानताके स्थानमें प्राचीन भारतमें वर्ण-प्रधानता थी। अधिकांश लोगोंके लिए दोनों समान हैं।

हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि पराधीन भारतवर्षमें उच्च श्रेणीके लोग अपनी बुद्धि, शिक्षा, वंश और मर्यादाके अनुसार प्रधानता नहीं प्राप्त कर सकते। जिसके विद्या और बुद्धि है, उसको यदि बुद्धिके सञ्चालन और विद्याको सफल करनेकी जगह न दी जाय, तो वह उसके प्रति बड़ा भारी अत्याचार होगा। आधुनिक भारतवर्षमें ऐसा होते देखा जाता है। प्राचीन भारतमें वर्णगत वैषम्यके कारण यह भी होता था, किन्तु इतना नहीं होता था। और एक बात यह है कि इस समय राज-काज आदि सब अँगरेजोंके हाथमें है—दूसरोंके बाहुबलसे रक्षित होनेके

कारण हम लोग खुद कोई काम नहीं कर पाते। इससे हम राज्यरक्षा और राज्यपालनकी विद्या नहीं सीखते। जातीयगुणकी स्फूर्ति नहीं होती। अतएव स्वीकार करना पड़ता है कि पराधीनता इस ओर हमारी उन्नतिमें बाधा डालती है। किन्तु वैसे ही दूसरी ओर हम यूरोपके साहित्य और विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यूरोपियन जातिके अधीन हुए बिना हमको यह सुख नसीब न होता। अतएव पराधीनतामें जैसे एक ओर हमारी क्षति होती है, वैसे ही दूसरी ओर उन्नति हो रही है।

अतएव यही समझा जाता है कि आधुनिक भारतकी अपेक्षा प्राचीन भारतवर्षमें उच्च श्रेणीके लोगोंको स्वाधीनताका कुछ सुख था। किन्तु-अधिकांश लोगोंके लिए प्रायः दोनों ही बराबर हैं; बल्कि आधुनिक भारत-वर्ष अच्छा है।

दोनोंकी तुलना करनेसे हमने जो जाना है, उसे संक्षेपमें फिर नीचे लिखते हैं। इससे बहुत लोगोंको समझनेमें सुविधा होगी।

१—भिन्न जातिका राजा होनेसे राज्य परतन्त्र या पराधीन नहीं होता। भिन्नजातीय राजाके अधीन राज्यको भी स्वतन्त्र और स्वाधीन कह सकते हैं।

२—स्वतन्त्रता और स्वाधीनता, परतन्त्रता और पराधीनता, इनके हम भिन्न भिन्न पारिभाषिक अर्थ लिख चुके हैं।

विदेशनिवासी राजाके द्वारा शासित राज्य परतन्त्र है। जहाँ भिन्न जातिकी प्रधानता है, वह राज्य पराधीन है। अतएव कोई राज्य परतन्त्र है, पर पराधीन नहीं है। कोई राज्य स्वतन्त्र है, पर स्वाधीन नहीं है। कोई राज्य परतन्त्र है और पराधीन भी है।

३—किन्तु तुलनाका उद्देश्य उत्कर्ष और अपकर्ष देखना है। जिस राज्यमें लोग सुखी हैं वही उत्कृष्ट है। जिस राज्यमें लोग दुखी हैं वही अपकृष्ट है। विचारणा यही है कि आधुनिक भारतकी प्रजा स्वतन्त्र और पराधीन अवस्थामें कितनी दुखी है।

४—पहले, स्वतन्त्रता और परतन्त्रताको लीजिए । इसके अन्तर्गत दो तत्त्व हैं। एक यह कि राजाके विदेशमें रहनेके कारण भारतवर्षके सुशासनमें विघ्न होता है या नहीं ? स्वदेशके मङ्गलके लिए शासनकर्त्ता लोग इस देशको हानि पहुँचाते हैं या नहीं ? स्वीकार करना होगा कि उक्त कारणसे सुशासनमें विघ्न भी होता है और भारतकी हानि भी होती है ।

किन्तु पूर्व समयमें राजाके चरित्रके दोषसे जो अनिष्ट होते थे, वे आधुनिक भारतमें संघटित नहीं होते । अतएव इस सम्बन्धमें प्राचीन और आधुनिक भारतवर्षमें विशेष तारतम्य नहीं देख पड़ता ।

५—दूसरे, स्वाधीनता और पराधीनताको लीजिए। आधुनिक भारतवर्ष यदि प्रभुजातिकी प्रधानतासे पीड़ित है, तो प्राचीन भारतमें भी ब्राह्मणोंके प्राधान्यकी पीड़ा कम न थी । अधिकांश प्रजाके लिए इस विषयमें भी कुछ अधिक इतर-विशेष नहीं है । हाँ, प्राचीन समयमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको कुछ सुख था ।

६—आधुनिक भारतमें कार्यगत जातीय-शिक्षाका लोप हो रहा है । किन्तु विज्ञान और साहित्यकी चर्चाकी अपूर्व स्फूर्ति हो रही है ।

इसपर बहुतसे पाठक हमपर बिगड़ कर कहेंगे कि तो फिर क्या स्वाधीनता और पराधीनता तुल्य है ? तो फिर पृथ्वीकी सब जातियाँ स्वाधीनताके लिए प्राणपण किये क्यों बैठी हैं ? जो लोग यह कहेंगे उनसे हमारा विनीत निवेदन यह है कि हम उस तत्त्वकी मीमांसा करने नहीं बैठे हैं । हम पराधीन जाति हैं—बहुत समय तक पराधीन ही रहेंगे । इसके विचारसे हमें कुछ प्रयोजन नहीं है । हमारा यह प्रबन्ध लिखनेका उद्देश्य केवल यही है कि प्राचीन भारतवर्षकी स्वाधीनताके कारण उस समयके भारतवासी आधुनिक भारतकी प्रजाकी अपेक्षा सुखी थे या नहीं । हमने इस प्रबन्धमें यह निर्णय किया है कि आधुनिक भारतमें ब्राह्मण-क्षत्रिय अर्थात् उच्च श्रेणीके लोगोंकी अवनति हुई है और शूद्रोंकी अर्थात् साधारण प्रजाकी कुछ उन्नति हुई है ।



बाहुबल और वाक्यबल ।

इतिहासमें सामाजिक दुःख दूर करनेके केवल दो उपाय कहे गये हैं— बाहुबल और वाक्यबल । इन दोनों बलोंके संबंधमें हमें जो कुछ कहना है, वह कहनेके पहले सामाजिक दुःखकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है ।

मनुष्यके दुःखके तीन कारण हैं ।–(१) कुछ दुःख जड़ पदार्थोंके दोषसे होते हैं । बाह्य जगत् कुछ नियमोंके अधीन होकर चलता है—कुछ शक्तियोंके द्वारा शासित हो रहा है । मनुष्य भी बाह्य जगतका एक अंश है । इस कारण उसपर भी वे ही शक्तियाँ शासन करती हैं। नैसर्गिक नियमोंका उल्लंघन करनेसे रोग आदि कष्ट देते हैं, भूख-प्यास पीड़ा पहुँचाती है और अनेक प्रकारके शारीरिक व मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं । (२) बाह्यजगतकी तरह अन्तर्जगत् भी मनुष्यके और एक दुःखका कारण है । कोई पराई बढ़ती देखकर सुख पाता है और कोई दुःख पाता है । कोई इन्द्रियसंयमसे सुखी होता है और किसीके लिए इन्द्रियसंयम घोर दुःख है । पृथ्वीके सब काव्यग्रन्थोंका आधार इसी श्रेणीका दुःख ही है । (३) मनुष्यके दुःखका तीसरा कारण समाज है । मनुष्य सुखी होनेके लिए समाजबन्धनमें पड़ता है । परस्परकी सहायतासे परस्पर अधिक सुखी होनेकी आशासे सब मिलकर रहते हैं । इससे विशेष उन्नति अवश्य होती है, किन्तु बहुत अमंगल भी होते हैं । समाजमें दुःख भी है । दारिद्र्यका दुःख सामाजिक दुःख है । जहाँ समाज नहीं है, वहाँ दारिद्र्य भी नहीं है ।

कुछ सामाजिक दुःख समाजकी स्थापनाके ही फल हैं—जैसे गरीबी । जैसे प्रकाशके साथ अन्धकार अवश्य होता है वैसे ही दारिद्र्य आदि कुछ दुःख भी समाजके साथ लगे हुए हैं *। इन सब सामाजिक दुःखोंका

---

* प्रकाश और छायाकी उपमा संपूर्ण और शुद्ध है । यह सत्य है, कि हम अपने मनमें ऐसे एक जगतकी कल्पना कर सकते हैं, जहाँ प्रकाशक सूर्यके

मूलच्छेद कभी नहीं हो सकता। किन्तु और भी कुछ सामाजिक दुःख ऐसे हैं जो समाजके नित्य फल नहीं हैं, वे निवृत्त किये जा सकते हैं, और उन्हें दूर करना सामाजिक उन्नतिका प्रधान अंश है। समाजके आदमी उन्हीं सामाजिक दुःखोंकी जड़ उखाड़नेके लिए बहुत दिनोंसे चेष्टा करते आ रहे हैं। उस चेष्टाका इतिहास सभ्यताके इतिहासका प्रधान अंश तथा समाज-नीति और राजनीति, इन दो शास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य है।

इन दो प्रकारके सामाजिक दुःखोंको मैं कुछ उदाहरणोंके द्वारा समझानेकी चेष्टा करूँगा। स्वाधीनताकी हानि एक प्रकारका दुःख है, इसमें सन्देह नहीं। समाजमें रहनेपर अवश्य ही स्वाधीनताकी कुछ हानि उठानी ही पड़ेगी। जितने मनुष्य समाजमें हैं, मैं, समाजमें रह कर, सबके कुछ कुछ अधीन हूँ। समाज-संचालकोंका तो मुझपर पूर्ण अधिकार है। अतएव स्वाधीनताकी हानि यह एक समाजका नित्य दुःख है।

स्वानुवर्त्तिता एक परमसुख है और उसकी क्षति परमदुःख है। जगदीश्वरने हमको जो शारीरिक और मानसिक वृत्तियाँ दी हैं उनकी स्फूर्त्तिसे ही हमको मानसिक और शारीरिक सुख मिलता है। यदि उन्होंने हमको आँखें दी हैं तो देखनेकी सब चीजोंके देखनेसे ही हमको आँखोंका सुख मिल सकता है। आँखें पाकर अगर हम उन्हें सदा बंद ही किये रहें तो आँखोंके सम्बन्धमें हम सदा दुखिया रहे। अगर हम कभी कभी या किसी किसी वस्तुके संबंधमें आँखें बंद करनेके लिए बाध्य हुए, तो हम आँखके सम्बन्धमें कुछ अंशमें दुखी ठहरे। हमको बुद्धि मिली है। बुद्धिकी स्फूर्ति ही हमारा सुख है। अगर हमें अपनी बुद्धिको सदा परिमार्जित करने और अपनी इच्छाके अनुसार चलानेका अवसर न मिला, तो हम उतना ही बुद्धिके सम्बन्धमें दुखिया हुए। अगर हमें किसी विशेष बातमें बुद्धिसे काम न लेनेके लिए बाध्य बना दिया गया, तो हम उतना ही बुद्धिके संबंधमें दुखी ठहरे।

सिवा और कुछ नहीं—अतएव वहाँ प्रकाश है, छाया नहीं है। वैसे ही हम अपने मनमें ऐसे एक समाजकी भी कल्पना कर सकते हैं, जिसमें सुख है, दुःख नहीं है। किन्तु वह जगत् और समाज दोनों ही केवल मनके लड्डू और अस्तित्वशून्य हैं।

समाजमें रहकर हम सब दृश्योंको देखने नहीं पाते—सब बातोंमें बुद्धिसे काम लेनेका हमें अवसर नहीं मिलता। मनुष्यको मारकर विज्ञान नहीं सीखने पाते—अथवा राजाके घरमें घुसकर वहाँका दृश्य देखने नहीं पाते। ये बातें समाजके लिए मंगलकी होने पर भी स्वानुवर्त्तितामें बाधा डालनेवाली हैं। और, इसीसे ये सामाजिक नित्य दुःख हैं।

दारिद्र्यकी बात पहले ही लिखी जा चुकी है। असामाजिक अवस्थामें कोई गरीब नहीं है। वनके फल-मूल और पशु सबको आहारके लिए मिल सकते हैं; नदीके जल और वृक्षकी छाँहमें किसीका इजारा नहीं है। खाना, पीना और आश्रय, जितना शरीर धारण करनेके लिए आवश्यक है, उससे अधिक कोई नहीं चाहता। न वैसा करनेकी कोई आवश्यकता समझता है और न वैसा करता है। इसी कारण एककी अपेक्षा दूसरा गरीब नहीं हो सकता। इसी कारण मानना पड़ता है कि असामाजिक अवस्थामें दरिद्रता नहीं है। दारिद्र्य तो एकसे दूसरेका मुकाबिला करनेकी बात है। वही तारतम्य या एकका दूसरेसे मुकाबिला सामाजिकताका नित्य फल है। दारिद्र्य इसीसे सामाजिकताका नित्य कुफल है।

ये सब सामाजिकताके फल हैं। जबतक मनुष्य समाजबद्ध रहेगा, तब तक ये नित्य दोष भी बने रहेंगे। किन्तु और भी कुछ सामाजिक दुःख हैं, जो अनित्य हैं और मिटाये जा सकते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि इस देशमें जो विधवायें ब्याह नहीं कर सकती, यह सामाजिक कुप्रथा—सामाजिक दुःख है, स्वाभाविक नहीं है। समाजकी गति फिरते ही यह दुःख दूर हो सकता है। हिन्दूसमाजके सिवा अन्य समाजमें यह दुःख नहीं है। ऐसे ही स्त्रियाँ सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं हो सकतीं, यह विलायती समाजका एक सामाजिक दुःख है। व्यवस्थापक समाजकी लेखनीकी एक सतरसे यह दुःख दूर हो सकता है। अनेक समाजोंमें यह दुःख नहीं है। भारतवर्षके लोग अपने देशमें राजकाजके ऊँचे पदोंको नहीं पासकते, यह एक दूर हो सकनेवाले सामाजिक दुःखका उदाहरण है।

जो सामाजिक दुःख नित्य और अनिवार्य हैं, उन्हें भी दूर करनेके लिए मनुष्य यत्न करते हैं। सामाजिक दरिद्रताको दूर करनेकी चेष्टा करनेवाले

लोग यूरोपमें सोशियालिस्ट, कम्युनिस्ट आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। स्वानुवर्त्तिताके साथ समाजका जो विरोध है, उसे कम करनेके लिए जान स्टुअर्ट मिल "Liberty" (स्वाधीनता) नामका ग्रन्थ* लिख गये हैं। बहुत लोग इस ग्रन्थको देवप्रसादसे प्राप्त वाक्यके समान मानते हैं। अनिवार्यका निवारण असंभव है। किन्तु अनिवार्य दुःखकी भी मात्रा कम की जा सकती है। सांघातिक रोगकी भी चिकित्सा है—उसकी यन्त्रणा घटाई जा सकती है। इस कारण जो लोग सामाजिक दुःख दूर करनेकी चेष्टामें लगे हैं, उनके परिश्रमको वृथा समझनेका कोई कारण नहीं है।

नित्य और अपरिहार्य सामाजिक दुःखोंका उच्छेद असंभव है। किन्तु अन्य सामाजिक दुःखोंका मूलोच्छेद संभव और मनुष्यके द्वारा साध्य है। उन्हीं दुःखोंको दूर करनेमें मनुष्य-समाज सदा व्यस्त रहता है। मनुष्यका इतिहास उसी व्यस्तताका इतिहास है।

कहा जा चुका है कि समाजके सब नित्य दुःख समाजकी स्थापनाके ही अपरिहार्य फल हैं—समाजकी सृष्टिसे ही वे उत्पन्न हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि अन्य सामाजिक दुःखोंका कारण क्या है? वे समाजका अपरिहार्य फल न होनेपर भी क्यों होते हैं? उनके निवारणके लिए इस प्रश्नकी मीमांसा होना बहुत आवश्यक है।

इस प्रकारके दुःखोंकी सृष्टि सामाजिक अत्याचारसे होती है। जान पड़ता है, पहले उदाहरणके तौरपर अत्याचारके बारेमें कह देना ठीक होगा, नहीं तो पाठक कहेंगे कि समाजके ऊपर अत्याचार किसका और कैसा? शक्तिके अविहित प्रयोगको अत्याचार कहते हैं। देखो, माध्याकर्षण आदि जो नैसर्गिक शक्तियाँ हैं वे एक ही नियम पर चलती हैं—उसमें कभी कमी-बेशी नहीं होती। वह नियम विधिबद्ध और अनुलंघनीय है। किन्तु जो शक्तियाँ मनुष्यके हाथमें हैं उनके नियमोंमें ऐसी स्थिरता नहीं है। जो शक्ति मनुष्यके हाथमें है उसका प्रयोग विहित भी हो सकता है और अविहित भी हो सकता है। जितनी शक्तिके प्रयोगसे उद्देश्य सिद्ध हो और किसीका कुछ अनिष्ट न हो, वही विहित प्रयोग है। उससे अधिक अविहित प्रयोग है।

---

* यह हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका पहला ग्रन्थ है। अनुवादक—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। मूल्य दो रुपया।

बारूदकी शक्तिके विहित प्रयोगसे शत्रु मरते हैं और अविहित प्रयोगसे तोप फट जाती है। शक्तिका यह अतिरिक्त प्रयोग ही अत्याचार है।

मनुष्य शक्तिका आधार है। समाज मनुष्योंका समूह है और इस लिए वह भी शक्तिका आधार है। उस शक्तिके विहित प्रयोगमें ही मनुष्यका मङ्गल है—दिनोंदिन सामाजिक उन्नति होनेकी संभावना है। अविहित प्रयोगका फल सामाजिक दुःख है। सामाजिक शक्तिका वही अविहित प्रयोग सामाजिक अत्याचार है।

बात अभीतक स्पष्ट नहीं हुई। सामाजिक अत्याचार तो समझमें आ गया, किन्तु अत्याचार करता कौन है? किसके ऊपर अत्याचार होता है? समाज तो मनुष्योंका समूह है। तो क्या ये सब मनुष्य मिलकर अपने ही ऊपर अत्याचार करते हैं? अथवा परस्परकी रक्षाके लिए जिन्होंने समाज-बन्धनको स्वीकार किया है वे ही परस्पर अत्याचार करते हैं? है यही, लेकिन ठीक यही भी नहीं कहा जा सकता। स्मरण रखना चाहिए कि अत्याचार शक्ति-हीका होता है। जिसके हाथमें सामाजिक शक्ति है, वही अत्याचार करता है। जैसे ग्रह आदि जड़-पिण्डोंकी माध्याकर्षणशक्ति केन्द्रनिहित है, वैसे ही समाजकी भी एक प्रधानशक्ति केन्द्रनिहित है। वह शक्ति शासन-शक्ति है और समाजके केन्द्र राजा अथवा सामाजिक शासनकर्ता लोग होते हैं। समाज-रक्षाके लिए समाजके शासनकी आवश्यकता है। अगर सभीके हाथमें शासन हो, तो अनियम और मतभेदके कारण शासन होना असंभव हो जाय। इसी कारण हरएक समाजमें शासनका काम एक या उससे अधिक व्यक्तियोंको सौंप दिया जाता है। उन्हींके हाथमें समाजकी शासन-शक्ति रहती है, वे ही सामाजिक केन्द्र होते हैं, वे ही अत्याचार करते हैं। वे मनुष्य हैं और मनुष्य-मात्र भ्रम और आत्मादरके भावसे खाली नहीं है। वे भ्रान्त होकर समाजके ऊपर उसीकी दी हुई शासनशक्तिका अविहित प्रयोग करते हैं। आत्मादरके कारण भी कभी कभी वे उस शक्तिका अविहित प्रयोग करते हैं।

तो अब एक प्रकारके सामाजिक अत्याचारीका पता लग गया। वे राजपुरुष हैं और समाजका अवशिष्ट अंश अत्याचारका पात्र है। किन्तु अस-लमें इस संप्रदायके अत्याचारी केवल राजा या राजपुरुष ही नहीं हैं। जो

लोग समाजपर शासन करते हैं, वे ही इस सम्प्रदायके अत्याचारी हैं। प्राचीन भारतवर्षके ब्राह्मण राजपुरुष नहीं गिने जाते थे, तथापि वे समाजके प्रधान शासक थे। आर्योंके समाजको वे लोग जिधर घुमाते फिराते थे, उधर ही वह घूमता फिरता था। समाजको वे जो जंजीर पहनाते थे, समाज अलंकार समझकर उसे पहन लेता था। मध्यकालीन यूरोपके धर्मयाजक भी इसी तरहके थे—राजपुरुष न होकर भी वे यूरोपियन समाजके शासक और घोर अत्याचारी थे। पोपगण यूरोपके राजा नहीं थे—थोड़ीसी भूमिके राजा थे, किन्तु वे सारे यूरोपपर घोर अत्याचार कर गये हैं। ग्रेगरी या इनोसेण्ट, लिओ या आड्रियन यूरोपमें जितना अत्याचार कर गये हैं, उतना दूसरे फिलिप, चौदहवें लुई, आठवें हेनरी और प्रथम चार्ल्स भी नहीं कर सके।

केवल राजपुरुषों और धर्मयाजकोंको ही दोष नहीं दिया जा सकता। इस समय इँग्लैंडमें राजा या रानी किसी प्रकारका अत्याचार करनेकी क्षमता नहीं रखते—शासनशक्ति उनके हाथमें नहीं है। इस समय इँग्लैंडमें यथार्थ शासनशक्ति एडीटरोंके हाथमें है। अतएव इँग्लैंडके एडीटर लोग अत्याचारी हैं। जहाँ सामाजिक शक्ति है वहीं सामाजिक अत्याचार है।

किन्तु यह बात नहीं है कि केवल शासक और समाजके व्यवस्थापक लोग ही अत्याचारी हों। अन्य प्रकारके सामाजिक अत्याचारी भी हैं। जिन विषयोंमें न राजशासन है और न धर्मशासन है—किसी प्रकारके शासन-कर्त्ताका शासन नहीं है—उन विषयोंमें समाज किनके मतपर चलता है? अधिकांश लोगोंके मतपर। जहाँ समाजका मत एक है, वहाँ कुछ भी गड़बड़ नहीं है—कोई अत्याचार नहीं है। किन्तु इस प्रकारका एक मत होना बहुत दुर्लभ है। मतभेद होनेपर अधिकांशके मतके अनुसार ही थोड़े लोगोंको चलना पड़ता है। थोड़ा अंश अगर भिन्नमतावलम्बी होता है तो भी, और अगर वह अधिकांशके मतके अनुसार काम करनेको घोरतर दुःख समझता है तो भी, उसे अधिकांशके मतके अनुसार ही चलना पड़ता है। नहीं तो समाजका अधिक अंश थोड़े अंशको अपनेसे अलग कर देगा, या अन्य कोई सामाजिक दण्ड देकर पीड़ा पहुँचावेगा। यह घोरतर सामाजिक अत्याचार है। यह अल्पांशके ऊपर अधिकांशका अत्याचार कहलाता है।

इस देशमें अधिकांशका मत है कि हिन्दूके घर पैदा होकर कोई विधवाका ब्याह न कर सकेगा या समुद्रयात्रा न कर सकेगा। अल्पांशका मत है विधवाका ब्याह करना अवश्य कर्त्तव्य है और इँग्लैंडकी यात्रा परम इष्ट है। किन्तु यदि यह अल्पांश अपने मतके अनुसार कार्य करे—विधवा कन्याका ब्याह करे और विलायत जाय, तो अधिकांश उसे समाजसे बाहर कर देगा। यही अधिकांशका अल्पांशके ऊपर किया गया अत्याचार है।

इँग्लैंडमें अधिकांश लोग ईसाके भक्त और ईश्वरवादी हैं। जो अनीश्वरवादी है और ईसाका भक्त नहीं है, वह साहस करके अपने मतको वहाँ प्रकट नहीं कर सकता। प्रकट करनेसे उसे अनेक प्रकारकी सामाजिक पीड़ाओंसे पीड़ित होना पड़ता है। जान स्टुअर्ट मिल जिन्दगी भर अपनी अभक्तिको व्यक्त नहीं कर सके। व्यक्त न करके भी, केवल सन्देहपात्र होकर पार्लियामेंटमें प्रवेश करनेके समय उन्हें अनेक विघ्न-बाधाओंसे तंग होना पड़ा था। मृत्युके बाद उन्हें अनेक गालियाँ भी खानी पड़ीं। यह अत्यन्त घोर सामाजिक अत्याचार है।

अतएव सामाजिक अत्याचारियोंकी दो श्रेणियाँ हैं। एक समाजके शासक और व्यवस्थापक और दूसरे समाजके अधिकांश लोग। इन्हींके अत्याचारसे सामाजिक दुःखकी उत्पत्ति होती है। ये सामाजिक दुःख समाजकी अवनतिके कारण हैं। इनका निराकरण मनुष्यसाध्य और मनुष्यके लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। किन उपायोंसे इनका निराकरण हो सकता है? ऐसे दो उपाय हैं—एक बाहुबल और दूसरा वाक्यबल।

पहले यह समझाया जायगा कि बाहुबल किसे कहते हैं और वाक्यबल किसे कहते हैं। इसके बाद इन दोनों बलोंका प्रयोग समझाया जायगा और दोनोंका भेद और तारतम्य भी दिखाया जायगा।

किसीको यह बतानेकी जरूरत नहीं है कि जिस बलके द्वारा बाघ मृगके बच्चेको मारकर खा जाता है और जिस बलसे आस्टलिज या सेडन जीता गया था—दोनों ही बाहुबल हैं। मैंने अभी लिखते लिखते देखा, एक छिपकली मक्खीको पकड़कर निगल गई। सिस्टिससे सिकन्दर तक जितने लोगोंने

साम्राज्य स्थापित किये हैं–संसारके बड़े बड़े खलीफाओं और बादशाहोंमेंसे जितनोंने अपने साम्राज्य स्थापित और रक्षित किये हैं, उन सबका बल और इस भूखी छिपकलीका बल एक ही बल--अर्थात् बाहुबल है। सुल्तान महमूद सोमनाथका मन्दिर लूट कर ले गया और यह काले मुँहकी बिल्ली मूसा पकड़कर भाग गई; दोनों ही वीर हैं, दोनोंके बाहुबल है। सोमनाथके मन्दिर और मेरे कपड़े काटनेवाले मूसेमें बहुत अन्तर है, यह बात मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु महमूदके लाखों सिपाहियों और अकेली बिल्लीमें भी बड़ा अन्तर है। संख्या और शरीरमें अन्तर होनेपर भी दोनोंके पराक्रममें बहुत अधिक अन्तर नहीं देख पड़ता। सागर भी जल है, और ओसका बूँद भी जल है। महमूदका वह पराक्रम और छिपकली या बिल्लीका पराक्रम एक ही है। दोनों कार्य बाहुबलके पराक्रम हैं। पृथ्वीके वीरपुरुष धन्य हैं और उनके गुणोंका कीर्तन करनेवाले 'हिराडोट्स' से 'के' और 'किंगलेक' साहब तक धन्य हैं।

यहाँपर कोई महाशय कह सकते हैं कि केवल बाहुबलसे कभी कोई साम्राज्य नहीं स्थापित हुआ। केवल बाहुके बलसे पानीपत या सेडन नहीं जीता गया—केवल बाहुके बलसे नेपोलियन या मार्लबरो वीर नहीं हुए। हम स्वीकार करते हैं कि कुछ कौशल—अर्थात् बुद्धिबल—बाहुबलके साथ संयुक्त हुए बिना कार्यकारिता नहीं होती। किन्तु कौशल भी केवल मनुष्य वीरका ही कार्य नहीं है। क्या आप यह समझते हैं कि छिपकली मक्खीको या बिल्ली मूसेको बिना कौशलके पकड़ती है ? बुद्धिबलके संयोगके बिना बाहु-बलकी स्फूर्ति नहीं होती,—बुद्धिबलके बिना जीवके किसी भी बलकी स्फूर्त्ति नहीं होती।

अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि जिस बलसे पशु और मनुष्य दोनों प्रधानतः स्वार्थसाधन करते हैं, वही बाहुबल है। असलमें उसे पशुबल कहना चाहिए, किन्तु उसमें सब प्रकारके कार्यकी क्षमता है और निष्पत्तिका वही अन्तिम उपाय है। जिसकी निष्पत्ति और किसी तरह नहीं होती, उसकी निष्पत्ति बाहुबलसे होती है। ऐसी कोई गाँठ नहीं जो छुरीसे न कटे, ऐसा कोई पत्थर नहीं जो चोटसे न टूटे। बाहुबल इस संसारकी ऊँची

अदालत है—सब अपीलोंके बाद यहीं अपील होती है। इसके ऊपर अपील नहीं है। बाहुबल पशुका बल है, किन्तु मनुष्य अभीतक किसी अंशमें पशु है, इस लिए बाहुबल ही मनुष्यका प्रधान अवलम्बन है।

किन्तु मनुष्य और पशुके बाहुबलमें एक भारी अन्तर है। पशुगण नित्य ही बाहुबलका व्यवहार करते हैं, किन्तु मनुष्यको नित्य बाहुबलके प्रयोगका प्रयोजन नहीं पड़ता। इसके दो कारण हैं। बाहुबल अनेक पशुओंके पेट भरनेका उपाय है। दूसरा कारण यह है कि पशुगण प्रयुक्त-बाहुबलके वशीभूत अवश्य हैं, किन्तु प्रयोगके पहले प्रयोगकी संभावनाको वे समझे हुए नहीं रहते। इसके सिवा समाजबद्ध न होनेके कारण वे बाहुबलके प्रयोजनका निवारण नहीं कर सकते। एक पुस्तकमें यह कथा लिखी हुई है कि एक जंगलके पशुओंने जब देखा कि उनके साथी पशुओंको नित्य सिंह मार-मारकर खा जाता है, तब उन्होंने सिंहके साथ यह प्रबन्ध कर लिया कि नित्य पशुओंपर अत्याचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है, नित्य उसके खानेके लिए एक पशु दे दिया जायगा। यहाँपर पशुओंने समाजबद्ध मनुष्यके ऐसा काम किया। सिंहके द्वारा किये जानेवाले नित्यके बाहुबलके प्रयोगको रोक दिया। मनुष्य बुद्धिके द्वारा समझ सकता है कि किस अवस्थामें बाहुबलके प्रयुक्त होनेकी सम्भावना है और सामाजिक बन्धनके द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है। जितने राजा हैं वे सब बाहुबलसे राजा हैं। किन्तु नित्य बाहुबलके प्रयोगद्वारा उन्हें प्रजापीड़न नहीं करना पड़ता। प्रजा देखती है कि लाखों सिपाही राजाकी आज्ञाके अधीन हैं। राजाकी आज्ञा न मानना या उसका उल्लंघन करना उनके लिए केवल ध्वंसका कारण होगा। अतएव प्रजा बाहुबलके प्रयोगकी संभावना देखकर राजाकी आज्ञाका विरोध नहीं करती। इस तरह बाहुबलका प्रयोग भी नहीं होता और बाहुबलके प्रयोगका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। इधर लाखों सेना जो राजाकी आज्ञाके अधीन है, उसका भी कारण प्रजाका धन और अनुग्रह ही है। प्रजाका धन जो राजाके खजानेमें है और प्रजाका अनुग्रह जो राजाको प्राप्त है, उसका कारण सामाजिक नियम है। अतएव इस जगतपर बाहुबलका प्रयोग न होनेका मुख्य कारण मनुष्यकी दूरदर्शिता और गौण कारण समाज-बन्धन है।

हम इस प्रबन्धमें गौण कारणको छोड़ भी दे सकते हैं। हम इस बातकी आलोचना कर रहे हैं कि सामाजिक अत्याचार किस किस बलसे निवृत्त होते हैं। समाजनिबद्ध हुए बिना सामाजिक अत्याचारका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। समाजबन्धन सब सामाजिक अवस्थाओंका नित्य कारण है। जो नित्य कारण है वह विकृतिके कारणके अनुसन्धानमें छोड़ दिया जा सकता है।

ऐसा समझा जा चुका है कि ऐसा करनेसे हमारे शासनके लिए बाहु-बलका प्रयोग होगा—यह विश्वास ही बाहुबलके प्रयोगके निवारणका मूल कारण है। किन्तु मनुष्यकी दूरदर्शिता सब समय समान नहीं रहती। वह सब समय बाहुबलके प्रयोगकी आशंका नहीं करती। अक्सर देखा जाता है कि समाजमें जिनकी दृष्टि तीक्ष्ण है, वे ही उसे समझ पाते हैं कि इस अवस्थामें बाहुबलके प्रयोगकी संभावना है। वे औरोंको वह अवस्था समझा देते हैं। लोग समझ जाते हैं। समझते हैं कि यदि हम इस समय कर्त्तव्य-साधन न करेंगे, तो हमारे ऊपर बाहुबलके प्रयोगकी संभावना है। उसके अशुभ फलकी आशंका करके विपरीत मार्गपर चलनेवाले लोग ठीक राह-पर चलने लगते हैं।

अतएव जब समाजका एक भाग दूसरे भागको पीड़ित करता है, तब उसके प्रतिकारके दो उपाय हैं। उनमेंसे एक बाहुबलका प्रयोग है। जब राजा प्रजाको उत्पीड़ित करके सहजमें निरस्त नहीं होता तब प्रजा बाहुबलका प्रयोग करती है। यदि कभी कोई राजाको यह समझा सकता है कि इस प्रकारका उत्पीड़न करनेसे प्रजाके द्वारा बाहुबलके प्रयोगकी आशंका है, तो राजा अत्याचारसे निरस्त हो जाता है।

इँग्लैंडके प्रथम चार्ल्स प्रजाके बाहुबलसे शासित हुए थे, यह सबको मालूम है। चार्ल्सके पुत्र द्वितीय जेम्स बाहुबलके प्रयोगका उद्यम देखकर देशत्यागी हो गये थे। किन्तु साधारणतः इस प्रकारके बाहुबलके प्रयोगका प्रयोजन नहीं होता। बाहुबलकी आशंका ही यथेष्ट है। असीम प्रतापशाली अगर समझें कि किसी काममें प्रजा असन्तुष्ट होगी, तो वे उस कार्यमें कभी हाथ न डालें। सन् १८५७—५८ में देखा गया है कि यद्यपि भारतकी प्रजा

बाहुबलमें उनके समकक्ष नहीं है, तथापि प्रजाके साथ बाहुबलकी परीक्षा सुखदायक नहीं है । अतएव वे बाहुबलके प्रयोगकी आशंका देखकर अपने वाञ्छित मार्गमें गमन नहीं करते ।

अतएव देखा जाता है कि केवल भावी फल समझा सकनेहीसे बिना प्रयोगके बाहुबलका कार्य सिद्ध हो जाता है । इस प्रवृत्ति और निवृत्तिको देनेवाली शक्ति और एक दूसरा बल है । उसमें वाक्यके द्वारा समझाना पड़ता है । इसीसे वह यहाँपर वाक्यबलके नामसे लिखा जाता है ।

यह वाक्यबल अत्यन्त आदरणीय पदार्थ है । बाहुबलसे मनुष्य-संहार आदि विविध अनिष्ट होते हैं । किन्तु वाक्यबल बिना रक्तपातके—बिना अस्त्राघातके—बाहुबलका काम निकाल देता है । अतएव इसकी विशेष रूपसे समालोचना होनी चाहिए कि यह वाक्यबल क्या है और इसका प्रयोग, लक्षण और विधान किस प्रकारका है । हमारे देशमें बाहुबलके प्रयोगकी कोई संभावना नहीं है और वर्तमान अवस्थामें वह अकर्त्तव्य भी है । सामाजिक अत्याचारके निवारणका एक मात्र उपाय वाक्यबल है । अतएव वाक्यबलकी उन्नति खास तौरसे की जानी चाहिए ।

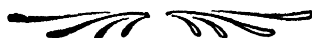
वास्तवमें बाहुबलकी अपेक्षा सब अंशोंमें वाक्यबल श्रेष्ठ है । अबतक बाहुबलसे संसारकी अवनति ही हुई है । उन्नति जो कुछ हुई है, वह वाक्य-बलसे । सभ्यताकी जो कुछ उन्नति हुई है वह वाक्यबलसे ही हुई है । समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति, साहित्य, विज्ञान, शिल्प आदि जिस चीजकी उन्नति हुई है, वाक्यबलसे हुई है । वक्ता, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, नीतिवेत्ता, धर्मवेत्ता, व्यवस्थावेत्ता आदि सबका बल वाक्य-बल है ।

इससे यह कोई न समझे कि बाहुबलके प्रयोगका निवारण ही वाक्य-बलका परिणाम है, या इसीके लिए वाक्यबलका प्रयोग होता है । मनुष्य कुछ कुछ पशुचरित्रको छोड़कर उन्नत अवस्थाको प्राप्त हुआ है । अक्सर मनुष्य भयभीत न होकर भी अच्छे काम करता है । यदि किसी समय एकदम समाज भरकी किसी विशेष अच्छे काममें प्रवृत्ति उत्पन्न हो, तो वह सत्कार्य अवश्य अनुष्ठित होता है । कभी कभी ज्ञानीके उपदेशके बिना

ऐसे सत्पथमें सर्वसाधारणकी प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण मनुष्य अज्ञ होते हैं, चिन्ताशील व्यक्ति उन्हें शिक्षा देते हैं। वे शिक्षा देनेवाले उपदेश जब यथाविहित बलशाली होते हैं, तभी समाजके हृदयमें स्थान पाते हैं। जो बिल्कुल समाजके हृदयमें बस जाता है, उसे समाज फिर छोड़ नहीं सकता—उसके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है। उपदेशके वाक्यबलसे आन्दोलित समाजमें विप्लव उपस्थित हो सकता है। वाक्यबलसे जैसा सामाजिक इष्ट सिद्ध होता है, वैसा होनेकी बाहुबलसे कभी संभावना नहीं।

मूसा, ईसा, शाक्यसिंह आदि बाहुबलसे बली नहीं थे, उनके पास केवल वाक्यबल था। किन्तु ईसा, शाक्यसिंह आदिके द्वारा पृथ्वीका जितना भला हुआ है, उसका शतांश भी बाहुबलके द्वारा नहीं हुआ। यह बात नहीं है कि बाहुबलके द्वारा कभी समाजका इष्ट नहीं होता। आत्मरक्षाके लिए बाहुबल ही श्रेष्ठ है। अमेरिकाके प्रधान उन्नतिकर्त्ता बाहुबल-वीर वाशिंगटन थे। हालैंड और बेल्जियमके प्रधान उन्नतिकर्त्ता बाहुबल-वीर विलियम थे। भारतवर्षकी आधुनिक दुर्गतिका कारण बाहुबलका अभाव ही है। किन्तु साधारणतः देखनेसे यह देख पड़ेगा कि बाहुबलकी अपेक्षा वाक्यबलसे ही जगतका कल्याण होता है। बाहुबल पशुका बल है। वाक्यबल मनुष्यका बल है। किन्तु केवल कुछ बक-बक कर लेना ही वाक्यबल नहीं है। कोरे वाक्यके बलको मैं वाक्यबल नहीं कहता। वाक्यसे जो व्यक्त होता है, उसीको मैं वाक्यबल कहता हूँ। चिन्ताशील मनुष्य चिन्ताके द्वारा जगतके तत्त्वोंको अपने मनसे आविष्कृत करते हैं। वक्ता लोग वाक्यके द्वारा उन तत्त्वोंको लोगोंके हृदयमें जमाते हैं। इन दोनों बातोंके बलकी समष्टिको वाक्यबल कहते हैं।

ये दोनों बल प्रायः एक ही पुरुषमें पाये जाते हैं। कभी कभी दोनों बल भिन्न भिन्न पुरुषोंमें अलग अलग होते हैं। एकत्र हों, या अलग अलग हों, दोनोंका समवाय ही वाक्यबल है। [असमाप्त ।]



प्यारका अत्याचार।

लोगोंका विश्वास है कि केवल शत्रु अथवा स्नेह, दया, अनुकूलता आदिसे रहित व्यक्ति ही हमारे ऊपर अत्याचार करते हैं। किन्तु यह बात हमारे ध्यानमें नहीं आती कि उनकी अपेक्षा भी भारी अत्याचार करनेवाले एक श्रेणीके लोग हैं। जो प्यार करता है वही अत्याचार करता है। प्यार करनेसे ही अत्याचार करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। मैं अगर तुमको प्यार करता हूँ तो तुमको मेरा मत मानना पड़ेगा, मेरी बात सुननी पड़ेगी, मेरा अनुरोध रखना पड़ेगा। तुमारा इष्ट हो या अनिष्ट, तुमको मेरा मत स्वीकार करना पड़ेगा। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि जो प्यार करता है, वह जान-बूझकर तुम्हारी बुराईके लिए तुमसे अनुरोध नहीं करेगा। किन्तु कौन कार्य मंगलजनक है और कौन अमंगलजनक, इसकी मीमांसा कठिन है। इस बारेमें अक्सर दो आदमियोंकी राय नहीं मिलती। ऐसी अवस्थामें कार्यकर्ता और उस कार्यका फल भोगनेवाला इस बातका पूर्ण अधिकारी है कि वह अपने मतके अनुसार ही कार्य करे। उसके मतके विरुद्ध उससे काम करानेका अधिकार केवल राजाको ही है। केवल राजा ही इस लिए इस बातका अधिकारी है कि हम लोगोंने उसे समाजका हित अहित जाननेवाला मानकर राज्यासनपर बिठलाया है। केवल राजाके ही सदसद्विवेकको अभ्रान्त मानकर उसे हमने अपनी प्रवृत्तियोंके दमन करनेका अधिकार दिया है। जो अधिकार हमने दिया है, उसके अनुसार अगर वह कार्य करे तो उससे किसीके ऊपर अत्याचार नहीं हो सकता। परन्तु सब समय और सब विषयोंमें हमारी प्रवृत्तियोंके दमनका अधिकार उसे भी नहीं। हमारे जिस कार्यसे वह अन्यके अनिष्टका अनुमान करे, उस कार्यकी प्रवृत्तिको रोकनेका ही उसे अधिकार है। जिस कार्यसे केवल हमारा ही अनिष्ट वह समझे, उस कार्यकी प्रवृत्तिको रोकनेका उसे भी कोई अधिकार नहीं है *। जिससे केवल

* यदि राजाका ऐसा अधिकार स्वीकार किया जाय तो रोगका इलाज न करनेवालों अथवा लड़कपन या बुढ़ापेमें ब्याह करनेवालोंको भी राजदण्ड मिलना चाहिए। और अगर अस्वीकार किया जाय, तो सतीदाह-निवारण आदि नियमोंका समर्थन नहीं किया जा सकता।

हमारा अनिष्ट है उससे निवृत्त होनेकी हमें सलाह देनेका मनुष्यमात्रको अधिकार है। राजा भी सलाह दे सकता है। किन्तु सलाहके सिवा हमें हमारी मर्जीके खिलाफ चलनेके लिए लाचार करनेका अधिकार किसीको नहीं है। समाजके सब लोगोंको अधिकार है कि वे दूसरेका अनिष्ट न करके हरएक कार्यको अपनी अपनी प्रवृत्तिके अनुसार संपादित करें। दूसरेका अनिष्ट करनेसे यह स्वेच्छाचार कहलायेगा और दूसरेका अनिष्ट न होनेसे इसे स्वानुवर्तिता कहेंगे। जो इस स्वानुवर्तितामें विघ्न डालता है, जो किसीका अनिष्ट न होनेके स्थानमें भी हमारे मतके विरुद्ध अपने मतको प्रबल करके उसके अनुसार कार्य करता है वही अत्याचारी है। राजा, समाज, और प्रणयी, ये तीन जन इस तरहका अत्याचार किया करते हैं।

राजाके अत्याचारको रोकनेका उपाय बहुत दिन पहले निकाला जा चुका है। समाजके इस अत्याचारको रोकनेके लिए पूर्वकालके कुछ पण्डितोंने अस्त्रधारण किया था। इस विषयमें जान स्टुअर्ट मिलका यत्न और विचारनिपुणता उनके माहात्म्यका परिचय देगी। किन्तु प्यारका अत्याचार रोकनेके लिए कभी किसीके यत्न करनेकी बात आजतक देखी सुनी नहीं गई। कवि लोग सर्वतत्त्वदर्शी और अनन्तज्ञानशाली होते हैं। वे कुछ नहीं छोड़ते। कैकेयीके अत्याचारसे दशरथकृत राम-वनवास, द्यूतमें आसक्त युधिष्ठिरके किये भाइयोंके निर्वासन और अन्यान्य सैकड़ों स्थानोंमें कविगण इस महती नीतिका प्रतिपादन कर गये हैं। किन्तु कवि-लोग नीतिवेत्ता नहीं होते और नीतिज्ञ लोगोंने प्रकाश्यरूपसे इस विषयमें कभी हस्तक्षेप नहीं किया है। जो कोई मन लगा कर लौकिक व्यापारोंपर दृष्टि डालेगा, वह इस तत्त्वकी समालोचनाके विशेष प्रयोज-नीय होनेमें कोई संशय नहीं रख सकता। क्यों कि इस अत्याचारके करनेवाले अत्याचारी अनेक हैं। पिता–माता, भाई–बहन, स्त्री–स्वामी, पुत्र–कन्या, आत्मीय–कुटुम्ब, सुहृद्–भृत्य, जो कोई प्यार करता है, वही कुछ न कुछ अत्याचार और अनिष्ट करता है। तुम यह इच्छा किये बैठे हो कि अच्छे लक्षणोंवाली, अच्छे कुलकी, अच्छे चरित्रकी कन्या देख कर उसके साथ ब्याह करेंगे। इसी बीचमें तुम्हारे बापने तुमसे बिना पूछे ही

किसी लड़कीके साथ तुम्हारे ब्याहकी बात पक्की कर ली। तुम यदि बालिग हो, तो इस विषयमें पिताकी आज्ञा माननेके लिए बाध्य नहीं हो। किन्तु पितृप्रेमके वशीभूत होकर तुमको वही ब्याह करना पड़ा। मान लो, कोई गरीब है। दैवके अनुग्रहसे उसे कोई अच्छी जगह मिल गई और वह दूर देश जाकर गरीबीसे पीछा छुड़ानेका उद्योग कर रहा है। इसी बीचमें माताने रोना धोना मचा दिया। उसे अपनेसे दूर जानेके लिए मना किया। वह मातृप्रेमसे लाचार होकर रह गया। मातृप्रेमके अत्याचारसे उसने अपनेको सदाके लिए गरीबीके गढ़ेमें डाल दिया। लायक भाईके कमाये रुपयेको निकम्मे नालायक भाई नष्ट करते हैं। यह बिल्कुल ही प्यारका अत्याचार है। यह हिन्दू-समाजमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है। भार्याके प्यारके अत्याचारका उदाहरण उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती; और स्वामीके अत्याचारके सम्बन्धमें धर्मसे इतना कह देना कर्त्तव्य है कि उनमेंसे कुछ प्यारके अत्याचार भी होते हैं, किन्तु अधिकांश अत्याचारोंका सम्बन्ध बाहुबलसे ही होता है।

मनुष्य-जीवन प्यारके अत्याचारोंसे पूर्ण है। मनुष्य सदासे अत्याचार-पीड़ित है। प्रथमावस्थामें बाहुबलका अत्याचार था। असभ्य जातियोंमें जो बली था, वही पर-पीड़न करता था। कुछ समय बाद यह अत्याचार राजाके अत्याचार और धनके अत्याचारके रूपमें परिणत हो गया। यह अत्याचार किसी समाजसे बिल्कुल कभी नहीं उठाया जा सका। द्वितीय अवस्थामें धर्मका अत्याचार, जातीय अवस्थामें सामाजिकताका अत्याचार और सभी अवस्थाओंमें प्यारका अत्याचार पाया जाता है। इन चार प्रकारके अत्याचारोंमें प्यारका अत्याचार किसी अत्याचारकी अपेक्षा हीनबल या कम अनिष्ट करनेवाला नहीं है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि राजा, समाज, या धर्मवेत्ता, कोई भी प्रणयीकी अपेक्षा बलवान् नहीं है। प्रणयीकी तरह कोई भी सदा सब घड़ी सब कामोंमें आकर हस्तक्षेप नहीं करता। इस कारण यह कहा जा सकता है कि प्यारका अत्याचार सबसे बढ़कर अनिष्टकारी है। अन्य अत्याचारोंको रोका जा सकता है—अन्य अत्याचारोंकी सीमा है। क्यों कि अन्यान्य अत्याचारियोंका विरोध करना सहज है।

प्रजा, प्रजापीड़क राजाको कभी गद्दीसे उतार देती है और कभी उसके प्राण ही ले लेती है। लोकपीड़क समाज त्याग किया जा सकता है। किन्तु धर्म और स्नेहके अत्याचारसे छुटकारा नहीं है। क्यों कि इनका विरोध करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। कभी कभी बकरीके बच्चेका सालन देखकर बैरागीबाबाकी लार टपक पड़ती है, किन्तु कभी वे गोस्वामीके मांसभोजनके सम्बन्धमें विचार करनेकी इच्छा ही नहीं करते कि वह उचित है या अनुचित। क्यों कि वे जानते हैं, इस लोकमें चाहे जितना कष्ट हो, पर परलोकमें तो गोलोक अवश्य ही मिलेगा।

मनुष्य जिन अत्याचारोंके अधीन है, उनकी जड़ मनुष्यका प्रयोजन है। जड़ पदार्थको अपने वशमें किये बिना मनुष्य-जीवनका निर्वाह नहीं हो सकता। इस लिए बाहुबलका प्रयोजन है। इसी कारण बाहुबलका अत्याचार भी है। बाहुबलका फल बढ़ानेके लिए समाजका प्रयोजन है। उसके साथ ही समाजका अत्याचार भी है। जैसे परस्पर समाजबन्धनमें बँधे बिना मनुष्य-जीवनका उद्देश्य सुसम्पन्न नहीं होता, वैसे ही परस्पर आन्तरिक बन्धनमें बँधे बिना मनुष्य-जीवनका अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता। अतएव समाजका जैसा प्रयोजन है वैसा ही, बल्कि उससे भी अधिक, प्रणयका प्रयोजन है। बाहुबल या समाजका अत्याचार होनेके कारण जिस तरह बाहुबल या समाजको मनुष्य त्याज्य या अनादरकी चीज नहीं समझते, उसी प्रकार प्रणयका अत्याचार होनेके कारण वह भी त्याज्य या अनादरणीय नहीं हो सकता। किन्तु जैसे मनुष्य अत्याचारी बाहुबल और समाजबलको परित्यक्त या अनादृत न करके धर्मके द्वारा उसे शान्त करनेकी चेष्टा करता है, वैसे ही प्रणयके अत्याचारको भी धर्मके द्वारा शान्त करनेका यत्न करना कर्तव्य है। धर्मका भी अत्याचार अवश्य है। धर्मका अत्याचार रोकनेके लिए अगर अन्य शक्तिका प्रयोग किया जायगा, तो उसका भी अत्याचार होगा। अत्याचारकी शक्ति स्वाभाविक है। यदि धर्मका अत्याचार शान्त कर सकनेवाली कोई शक्ति है, तो वह ज्ञान है। किन्तु ज्ञानका भी अत्याचार है। इसका उदाहरण हितवाद और प्रत्यक्षवाद नामके दो दर्शन हैं। इन दोनोंके वेगसे हृदय-सागरका बहुतसा हिस्सा सूखे बालूके टापुओंका रूप धारण करता जा रहा है। जान पड़ता है,

ज्ञानके अत्याचारपर शासन करनेके लिए मनुष्य किसी शक्तिका व्यवहार न कर सकेगा। कमसे कम इस समय तो यही समझमें आता है।

उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि प्रणयके ही द्वारा प्रणयका अत्याचार शान्त किया जा सकता है। हम स्वीकार करते हैं कि यह बात यथार्थ है। स्नेह यदि स्वार्थपरतासे शून्य हो, तो यह हो सकता है। किन्तु साधारण मनुष्योंकी प्रकृति ऐसी है कि स्वार्थपरताशून्य प्यार इस संसारमें दुर्लभ है। इस बातके असली मतलबको न लेकर अनेक लोग मन-ही-मन इसका प्रतिवाद कर सकते हैं। वे कह सकते हैं कि जिस माताने स्नेहवश पुत्रको धन कमानेके लिए परदेश नहीं जाने दिया, वह क्या स्वार्थपर है? बल्कि यदि वह स्वार्थपर होती तो पुत्रको धनकी खोजमें दूरदेश जानेके लिए मना न करती। क्योंकि कौन माता पुत्रकी कमाईका सुख नहीं भोगना चाहती? अतएव इस प्रकारके दर्शन मात्रकी आकांक्षा रखनेवाले स्नेहको बहुत लोग अस्वार्थपर स्नेह समझते हैं। किन्तु वास्तवमें यह खयाल ठीक नहीं है। यह स्नेह अस्वार्थपर नहीं है। जो लोग इसे अस्वार्थपर मानते हैं, वे केवल धनपरायणताको ही स्वार्थपरता समझते हैं। जो धनकी कामना नहीं करता, उसे वे स्वार्थपरतासे शून्य समझते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि धनलाभके अलावा पृथ्वीपर अन्यान्य सुख हैं और उनमेंसे किसी किसी सुखकी आकांक्षा धनकी आकांक्षासे अधिकतर वेगवाली है। जिस माताने धनका मोह त्यागकर पुत्र-मुख देखनेके सुखकी वासनासे पुत्रको सदाके लिए गरीब बना डाला, अथवा अपनी अवस्था सँभालनेका अवसर उसके हाथसे निकल जाने दिया, उसने भी अपना सुख खोया। वह धनका सुख नहीं चाहती, किन्तु पुत्रको सदा देखनेका सुख चाहती है। वह सुख माताका है, पुत्रका नहीं है। माताको देखनेसे अगर पुत्रको सुख हो तो हो, वह जुदी बात है। उसमें पुत्रकी प्रवृत्ति होनी चाहिए। माताने यहाँपर अपना एक सुख ढूँढ़ा—नित्य पुत्रका मुख देखना। उसकी अभिलाषा करके उसने पुत्रको दारिद्र्यके दुःखसे दुःखित बनाना चाहा। यहाँ माता स्वार्थपर है; क्यों कि उसने अपने सुखके लिए अन्यको दुखी किया।

मनुष्यके स्नेहका अधिक अंश इसी तरह प्रणयी और प्रणय-पात्र दोनोंके चित्तको सुखदायक, किन्तु स्वार्थपर पशुचरित्र होता है। प्रणयी अन्य सुखकी अपेक्षा केवल प्रणयसुखका अभिलाषी होता है, इसी लिए लोग ऐसे स्नेहको अस्वार्थपर कहते हैं। किन्तु स्नेहका जो सुख है वह स्नेहयुक्तका है। स्नेहयुक्त, अर्थात् स्नेह करनेवाला, अपने सुखकी आकांक्षा करता है, इस लिए साधारण मनुष्य-स्नेहको स्वार्थपर वृत्ति कहना अनुचित नहीं।

किन्तु स्नेह मनुष्यके हृदयमें स्वार्थसाधनके लिए नहीं स्थापित हुआ है। मनुष्यके चरित्रने अबतक वैसा उत्कर्ष प्राप्त नहीं किया, इसीसे मनुष्यस्नेह अबतक पशुवत् है। पशुवत् इस लिए है कि पशुओंमें भी दाम्पत्यके अतिरिक्त परस्पर वत्स-स्नेह, दाम्पत्य-प्रणय और वात्सल्य, आदि अन्य प्रकारके प्रणय हैं। सन्तानका स्नेह पशुओंमें मनुष्यकी अपेक्षा कम नहीं है।

स्नेहका यथार्थ स्वरूप ही अस्वार्थपरता है। जिस माताने पुत्रके सुखके लिए पुत्रमुखदर्शनसुखकी कामना छोड़ दी, वही यथार्थ स्नेह करनेवाली है। जो प्रणयी प्रणय-पात्रकी भलाईके लिए प्रणयसुख-भोगको छोड़ सका, वही सच्चा प्रणयी है।

जब तक साधारण मनुष्योंका प्रेम इस तरह विशुद्धताको प्राप्त न करेगा, तब तक मनुष्यके प्यारसे स्वार्थपरताका कलंक दूर न होगा और स्नेहकी यथार्थ स्फूर्ति न होगी। जहाँ प्यारको ऐसा शुद्धरूप प्राप्त होगा, या जिसका प्यार ऐसे शुद्धरूपको प्राप्त हो चुका है, वहीं प्यारके द्वारा प्यारका अत्याचार रोका जा सकता है और रोका भी जाता है। ऐसे शुद्ध प्रणयके प्रणयी मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं। किन्तु इस प्रबन्धमें उनकी बात नहीं की जा रही है और वे अत्याचार भी नहीं करते। अन्यत्र, धर्मके शासनसे प्रणयको शासित करना ही प्यारके अत्याचारको रोकनेका एक मात्र उपाय है। वह धर्म क्या है?

धर्मकी चाहे जो कोई जैसी व्याख्या करे, धर्म एक है। केवल दो मूल-सूत्रोंमें मनुष्य मात्रके नीतिशास्त्रका निचोड़ कहा जा सकता है। उनमें एक आत्मसम्बन्धीय और दूसरा पर-सम्बन्धीय है। जो आत्मसम्बन्धीय है वह आत्मसंस्कारनीतिका मूल कहा जा सकता है। अपने चित्तकी स्फूर्ति और

निर्मलताकी रक्षा ही उसका उद्देश्य है। दूसरा सूत्र परसम्बन्धीय होनेके कारण यथार्थ धर्मनीतिका मूल कहा जा सकता है। १—दूसरेका अनिष्ट न करना, २—यथाशक्ति दूसरेकी भलाई करना, यह महती उक्ति जगत् भरके धर्मशास्त्रोंका एकमात्र मूल और एकमात्र फल है। अन्य कोई भी नीतिसे सम्बन्ध रखनेवाली उक्ति कहिए, उसका आदि और अन्त इसीमें लीन हो जायगा। आत्मसंस्कार-नीतिके सब तत्त्वोंके साथ इस महानीति-तत्त्वका ऐक्य है। और, परहित-नीति और आत्मसंस्कार-नीति एक ही तत्त्वकी भिन्न भिन्न व्याख्या मात्र हैं। परोपकारमें प्रवृत्ति और पराये अहितसे निवृत्ति, यही समग्र नीतिशास्त्रके उपदेशोंका सारांश है।

अतएव इसी धर्मनीतिके मूलसूत्रका अवलंबन करनेसे ही प्यारका अत्याचार निवृत्त हो सकता है। जब स्नेह करनेवाला आदमी स्नेहपात्रके किसी काममें हस्तक्षेप करनेको उद्यत होता है, तब उसे अपने मनमें यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं केवल अपने सुखके लिए उसमें हस्तक्षेप नहीं करूँगा। अपना समझकर जिसपर स्नेह रखता हूँ उसका किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं करूँगा। जितना कष्ट सहना पड़े, मैं सहूँगा, तथापि स्नेहपात्रको किसी अनिष्टकार्यमें प्रवृत्त न करूँगा।

यह बात सुननेमें बहुत छोटी और साधारण है और पुरानी जनश्रुतिकी पुनरुक्ति जान पड़ सकती है, किन्तु समयपर इसके अनुसार चलना उतना सहज नहीं है। उदाहरणके तौरपर दशरथकृत रामनिर्वासनकी बातको ही ले लीजिए। इसीके द्वारा इस सामान्य नियमके प्रयोगकी कठिनता बहुतोंकी समझमें आ जायगी। यहाँ कैकेयी और दशरथ दोनों ही प्यारके अत्याचारमें प्रवृत्त हैं। कैकेयी दशरथके ऊपर और दशरथ रामके ऊपर वह प्यारका अत्याचार कर रहे हैं। इनमेंसे कैकेयीका कार्य स्वार्थपर और नीच कहकर चिर-परिचित है। कैकेयीका कार्य स्वार्थपर और नीच अवश्य है, किन्तु उसके प्रति इतनी कटूक्तियोंका प्रयोग शायद विहित नहीं कहा जासकता। कैकेयीने अपने किसी इष्टकी कामना नहीं की—अपने पुत्रकी भलाई सोची थी। यह सत्य है कि पुत्रके मंगलसे ही माताका मंगल है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जो एतद्देशीय पिता-माता अपनी जातिके

खौफसे पुत्रको पढ़नेके लिए विलायत नहीं जाने देते, उनके कार्यकी अपेक्षा कैकेयीका यह कार्य सौगुना अस्वार्थपर है।

इस बातको जाने दो। कैकेयीके दोष-गुणोंका विचार करनेके लिए इस समय हम प्रस्तुत नहीं है। दशरथने सत्यपालनके लिए रामको वन भेजकर भरतको राज्य दिया। इसमें उन्हें प्राणाधिक पुत्रका वियोग स्वीकार करना पड़ा और अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। इसीसे भारतवर्षके साहित्यका इतिहास उनके यशके कीर्त्तनसे परिपूर्ण है। किन्तु उत्कृष्ट धर्मनीतिके विचारसे यही सिद्ध होता है कि दशरथने पुत्रको अपने अधिकारसे च्युत और निर्वासित करके सत्यका पालन किया, तो इससे उन्हें घोर अधर्म ही हुआ।

हम पूछते हैं कि क्या सत्य (अर्थात् प्रतिज्ञा) मात्रका पालन करना चाहिए? यदि सती कुलकामिनी किसी फेरमें पड़कर किसी कुचरित्र पुरुषके निकट धर्मत्यागका वादा कर ले, तो क्या उस वादेको पूरा करना चाहिए? यदि कोई किसी ठगके बहकानेसे बिना किसी दोषके मित्रको मारनेकी प्रतिज्ञा कर ले, तो क्या उसे उसका पालन करना चाहिए? जो कोई घोर महापाप करनेकी प्रतिज्ञा कर ले, तो क्या वह प्रतिज्ञा पालनीय हो सकती है?

जहाँ प्रतिज्ञाके तोड़नेकी अपेक्षा उसकी रक्षा करनेमें अधिक अनिष्ट है, वहाँ क्या उचित है? प्रतिज्ञाको तोड़ना या प्रतिज्ञाकी रक्षा? बहुत लोग कहेंगे कि वहाँ भी सत्यका पालन करना चाहिए। क्यों कि सत्य नित्य-धर्म है, अवस्था-भेदसे वह पुण्यसे पाप नहीं हो सकता। अगर आप पुण्य और पापका निर्णय इस विचारसे करते हैं कि जब जो काम करनेवालेकी समझमें इष्टकारक हो तब वह कर्त्तव्य है, और जब अनिष्टकारक हो तब अकर्त्तव्य है, तो फिर पुण्य-पापमें कोई भेद नहीं रहता। तब लोग पुण्य कहकर घोर महापातकमें प्रवृत्त हो सकते हैं। हम यहाँपर इस तत्त्वकी मीमांसा नहीं करेंगे। क्यों कि हितवाददर्शनके अनुयायी लोगोंने एकप्रकारसे इसकी मीमांसा कर रक्खी है।

जब इस प्रकार मीमांसामें गड़बड़ हो, तब धर्मनीतिका जो मूलसूत्र पहले बताया जा चुका है उसके द्वारा परीक्षा की जानी चाहिए।

सत्य क्या सर्वत्र पालनीय है? इसके उत्तरका निर्णय करनेके पहले प्रश्न यह है कि सत्य-पालनीय क्यों है? सत्य-पालनकी एक जड़ धर्म-नीतिमें है और एक जड़ आत्मसंस्कार-नीतिमें है। हम आत्मसंस्कार-नीतिको धर्म-नीतिका अंश मानना अस्वीकार कर चुके हैं, इससे धर्म-नीतिका मूल ही देखेंगे। विशेष बात यह है कि दोनोंका फल एक ही है। धर्म-नीतिका मूलसूत्र यह है कि जिससे दूसरेका अनिष्ट हो वह अकर्त्तव्य है। सत्य पालन न करनेसे दूसरेका अनिष्ट होता है, इस लिए सत्य पालनीय है। किन्तु जब सत्य-पालनसे दूसरेका भारी अनिष्ट होता हो, और सत्यका पालन न करनेसे वैसा न होता हो, तब सत्य पालनीय नहीं। दशरथके सत्यपालनसे रामका भारी अनिष्ट हुआ, और सत्यका पालन न करनेसे कैकेयीका वैसा कुछ अनिष्ट न होता। रहा दृष्टान्त-स्वरूपसे जनसमाजका अनिष्ट, सो रामको उनके अधिकारसे भ्रष्ट करनेमें ही उसकी आशंका अधिक है। यह तो दस्युताका रूपान्तर कहा जा सकता है। अतएव ऐसी जगहपर दशरथने सत्यका पालन करके ही महापाप किया।

यहाँपर दशरथ स्वार्थपरतासे खाली नहीं हैं। सत्यभंग होनेसे जगतमें उनके कलंककी घोषणा होगी, इसी भयसे उन्होंने रामको उनके अधिकारसे च्युत और बहिष्कृत कर दिया। अतएव यशोरक्षारूप स्वार्थके वशीभूत होकर उन्होंने रामका अनिष्ट किया। सच है कि उन्होंने अपने प्राणोंकी हानि भी स्वीकार की, किन्तु उनके निकट प्राणोंकी अपेक्षा यश ही प्रिय था। अतएव उन्होंने अपने इष्टकी ही रक्षा की। इस लिए वे स्वार्थपर हैं। स्वार्थपरताके दोषसे युक्त पराया अनिष्ट निस्सन्देह घोरतर महापाप है।

अस्वार्थपर प्रेम और धर्मकी एक ही गति और एक ही परिणति है। दोनोंका साध्य दूसरेका मंगल है। वास्तवमें प्रेम और धर्म एक ही पदार्थ हैं। सब संसार जब प्रेमका विषय हो जाता है तब वह प्रेम ही धर्म नामको प्राप्त होता है। धर्म जबतक सार्वजनिक प्रेमके रूपको धारण नहीं करता, तबतक वह संपूर्णताको नहीं प्राप्त होता। किन्तु मनुष्योंने कार्यतः स्नेहको धर्मसे अलग कर रक्खा है, अतएव प्यारका अत्याचार रोकनेके लिए धर्मके द्वारा स्नेहपर शासन होनेकी आवश्यकता है।

अनुकरण।

जगदीश्वरकी कृपासे उन्नीसवीं--बीसवीं शताब्दीमें नव्य बाबू नामधारी एक अद्भुत जीव जगतमें दिखाई पड़े हैं। पशुतत्त्वके ज्ञाताओंने परीक्षाद्वारा निश्चय किया है कि बाहरसे तो इनमें मनुष्यके लक्षण मिलते हैं,— इनके हाथों और पैरोंमें पाँच पाँच अंगुलियाँ हैं, पूँछ नहीं है, और इनकी हड्डियाँ तथा मस्तक 'बाइमेन' जातिके सदृश जान पड़ते हैं। परन्तु इनके अन्तःस्वभावके सम्बन्धमें अभी तक वैसा निश्चय नहीं हो सका है। किसी किसी विद्वानका मत है कि ये भीतरसे भी मनुष्य हैं। कोई कोई कहते हैं कि ये बाहरसे मनुष्य किन्तु भीतरसे पशु हैं। इसी तत्वकी मीमांसाके लिए श्रीयुक्त राजनारायण बसुने कुछ समय पहले एक व्याख्यान दिया था। उक्त व्याख्यान अब मुद्रित भी हो चुका है। उसमें उन्होंने पशुपक्षका ही समर्थन किया है।

तो हम लोग किस मतके माननेवाले हैं? हम भी बाबुओंको पशुश्रेणीभुक्त माननेवाले हैं। हमने अँगरेजी समाचारपत्रोंसे इस पशुतत्त्वका अभ्यास किया है। किसी किसी ताम्रश्मश्रु ऋषिका मत यह है कि जिस तरह विधाताने तीनों लोकोंकी सुन्दरियोंके सौन्दर्यका तिल तिल संग्रह करके तिलोत्तमाका सृजन किया था, उसी प्रकार पशुवृत्तियोंका तिल तिल संग्रह करके यह अपूर्व नव्य बाबू-चरित्र सृजन किया गया है। विधाताने शृगालोंसे शठता (धूर्तता), श्वानोंसे खुशामद और भिक्षानुराग, भेड़ोंसे भीरुता, वानरोंसे अनुकरणपटुता और गर्दभोंसे गर्जन—इन सब गुणोंका संग्रह करके, दिङ्मण्डलको उज्ज्वल करनेवाले, भारतवर्षके एक मात्र भरोसे, और भट्ट मोक्षमूलरके आदरके स्थान, नव्य बाबुओंको समाजाकाशमें उदित किया है। जैसे सुन्दरियोंमें तिलोत्तमा, ग्रंथोंमें रिचर्डसन्स सिलेक्शन्स, पोशाकोंमें फकीरकी गुदड़ी, और भोजनोंमें खिचड़ी है, वैसे ही मनुष्योंमें नव्य बाबू लोग हैं। जिस तरह क्षीरसागरके मन्थन करनेसे जगत्प्रकाशक चन्द्र निकला था, उसी तरह पशु-चरित्र-सागरके मन्थनसे ये अनिन्दनीय बाबू-चन्द्रमा निकलकर भारतवर्षको उजेला दे रहे हैं। राजनारायण बाबू जैसे अमृतलुब्ध लोगोंको हम अच्छा नहीं समझते, जो राहु बनकर इन कलङ्कशून्य चन्द्रबिम्बोंको ग्रसना

चाहते हैं। विशेष कर हम राजनारायण बसु महाशयसे पूछते हैं कि जब आपने अपनी एक पुस्तकमें गोहत्याका निषेध किया है, तब आप क्यों अपनी वक्तृतामें बाबू लोगोंपर खड्गहस्त हुए हैं ? बाबू लोग गऊ-बैलोंसे किस बातमें कम या निकृष्ट हैं ? जैसे गऊ-बैल उपकार करते हैं वैसे ही ये भी करते हैं। ये लोग अखबाररूपी सुस्वादु दूध मटके भर भर कर देते हैं, चाकरीका हल कंधेपर लादकर जीवनके खेतको जोत कर अँगरेज किसानोंको अन्न-धन पैदा करनेमें सहायता पहुँचाते हैं, विद्याके बोरे कालेजोंसे पीठपर लाद लाद कर छापेखानोंमें आकर डाल देते हैं, समाज-संस्कारकी गाड़ीपर विलायती माल लाद कर रसके बाजारमें पहुँचाते हैं और देशहितके कोल्हूमें स्वार्थ-सरसों पेरकर यशरूपी तेल निकालते हैं। भला ऐसे जीवोंपर कोई खड्गहस्त होता है ! हमारे देशके इन बाबुओंकी लोग जितनी निन्दा करते हैं वास्तवमें उतने निन्दनीय वे नहीं हैं। बहुतसे स्वदेशवत्सल लोग जिस अभिप्रायसे बाबुओंकी निन्दा करते हैं, राजनारायण-जीने भी उसी अभिप्रायसे—बाबुओंके हितके लिए—उनकी निन्दा की है। अपने "तब और अब" शीर्षक लेखमें निरपेक्षभावसे 'भूत' और 'वर्तमान' की आलोचना करना उनका उद्देश्य नहीं। 'वर्तमान' के दोष दिखलाना ही उनका उद्देश्य है। उन्होंने 'वर्तमान' के गुणोंपर दृष्टि नहीं डाली और दृष्टि डालना भी व्यर्थ था; क्यों कि वर्तमान बाबुओंको अपने गुणोंके विषयमें तो कुछ भी सन्देह नहीं है—वे केवल अपने दोषोंको ही नहीं देख पाते।

यह कहना अनुचित नहीं कि इस नई पौधमें कई दोष हैं। उन सबमें 'अनुकरणका अनुराग' एक ऐसा दोष है जिसपर सबका कटाक्ष है। इसके लिए क्या अँगरेज और क्या हिन्दुस्तानी, सभी नित्य इस पौधका तिरस्कार करते हैं। इस विषयमें राजनारायणजीने जो कुछ कहा है उसे उद्धृत करनेकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। वे बातें आजकल हर एक पुराने ढंगके आदमीके मुखसे सुन पड़ती हैं।

हम उन बातोंको स्वीकार करते हैं, और यह भी मानते हैं कि राजना-रायणजीने जो कहा है उसमें बहुत कुछ सत्य है; किन्तु अनुकरणके बारेमें

हम उनसे सहमत नहीं। अनुकरणके सम्बन्धमें लोगोंकी कुछ भ्रान्त धारणायें हो गई हैं।

क्या अनुकरण करना ही दोष है? यह कभी हो नहीं सकता। अनुकरणके सिवा प्रथम शिक्षा प्राप्त करनेका कोई उपाय ही नहीं है। जैसे छोटा बच्चा सयाने लोगोंकी बातोंका अनुकरण करके बोलना सीखता है, जैसे वह सयानोंके कामोंको देखकर अनुकरण करके उन्हें करना सीखता है, वैसे ही असभ्य और अशिक्षित जातियाँ सभ्य और शिक्षित जातियोंका अनुकरण करके वैसी ही बनती हैं। अतएव नई पौधके हिन्दुस्तानी अगर अँगरेजोंका अनुकरण करते हैं तो वह ठीक है—युक्तिसंगत है। यह सच है कि आदिकी सभ्य जातियाँ, बिना किसीका अनुकरण किये शिक्षित और सभ्य बनीं—प्राचीन भारतवर्ष और मिसरकी सभ्यता किसीके अनुकरणका फल नहीं है। किन्तु आधुनिक यूरोपकी सभ्यता और शिक्षा, जो इस समय सब जातियोंकी सभ्यता और शिक्षासे श्रेष्ठ समझी जाती है, कैसे सुसम्पन्न हुई? इसका उत्तर यही है कि अनुकरणसे। रोम और यूनानकी सभ्यताके अनुकरणसे ही यूरोपकी सभ्यता इस दर्जेको पहुँची है। रोमकी सभ्यता भी यूनानकी सभ्यताके अनुकरणका फल है। पुरावृत्त जाननेवालोंको मालूम है कि आजकल हिन्दुस्तानी बाबू लोग अँगरेजोंका जितना और जैसा अनुकरण करते हैं, यूरोपियन लोगोंने पहलेपहल यूनानियोंका—विशेषकर रोमका—उससे कम अनुकरण नहीं किया। उन्होंने पहले अनुकरण किया, इसीसे आज वे उन्नतिके इतने ऊँचे सोपानपर विजय-वैजयन्ती लिये खड़े हुए हैं। लड़कपनमें दूसरेका हाथ पकड़कर जलमें उतरना जिसने नहीं सीखा, वह कभी तैरना नहीं सीख सकता। मास्टरके अक्षरोंको देखकर जिसने पहले लिखना नहीं सीखा, वह लिख नहीं सकता। हिन्दुस्तानी लोग अँगरेजोंका अनुकरण कर रहे हैं, यही उनके लिए आशा है।

किन्तु लोगोंको यह विश्वास है कि अनुकरणके द्वारा अव्वल दर्जेकी उन्नति नहीं हो सकती। क्यों भाई, कैसे?

पहले साहित्यको लीजिए। पृथ्वीके कुछ प्रथम श्रेणीके महाकाव्य केवल अनुकरणमात्र हैं। पोपने ड्राइडेन और बोयालोका अनुकरण किया है और

जान्सनने पोपका । हम इस तरहके छोटे छोटे लेखकोंके दृष्टान्त दिखाकर ही अपने कथनको प्रमाणित नहीं करना चाहते । बड़ोंको भी देखिए । बर्जिलका महाकाव्य होमरके प्रसिद्ध महाकाव्यका अनुकरण है । रोमका सारा साहित्य यूनानके साहित्यका अनुकरण है । कहनेका मतलब यह है कि जो रोमका साहित्य वर्तमान यूरोपकी सभ्यताका आधार है, वह अनुकरणमात्र है । इन विदेशके उदाहरणोंको जाने दीजिए । आप अपने ही यहाँके लीजिए । हमारे देशमें दो महाकाव्य हैं—उनको हम महाकाव्य न कहकर गौरवके लिए इतिहास कहते हैं—वे पृथ्वीके सब काव्योंमें श्रेष्ठ हैं । गुणमें दोनों प्रायः समान ही हैं, थोड़ा ही अन्तर है । पर साहित्यकी दृष्टिसे देखिए, तो एक प्रायः दूसरेका अनुकरण है । व्हीलर साहबको छोड़कर शायद और कोई आपत्ति नहीं करेगा कि महाभारतकी रचना रामायणके बाद हुई है । अन्यान्य अनुकृत और अनुकारी नायकोंमें जितना अन्तर देखा जाता है, राम और युधिष्ठिरमें उससे अधिक अन्तर नहीं है । रामायणके अमित बलशाली वीर जितेन्द्रिय भ्रातृ-वत्सल लक्ष्मण महाभारतमें अर्जुन बन गये हैं और भरत-शत्रुघ्नका प्रतिबिंब नकुल-सहदेव । भीमका ढंग निराला है, तथापि बहुतसी बातोंमें उनपर कुंभकर्णकी छाया पड़ गई है । रामायणमें बिभीषण हैं, महाभारतमें विदुर हैं । अभिमन्यु और इन्द्रजित् एक ही ढंगके हैं । इधर राम अपने भाई और स्त्रीके साथ सुदीर्घसमय तक वनमें रहनेको बाध्य हुए, और उधर युधिष्ठिर भी भाई और स्त्रीके साथ वनको गये । दोनों ही राज्य पाते पाते उससे वञ्चित हुए । एककी स्त्री हरी गई और दूसरेकी स्त्रीका भरी सभामें अपमान हुआ । दोनों ही महाकाव्योंका सारांश जो युद्ध है, उसमें एकमें स्पष्टरूपसे और दूसरेमें अस्पष्टरूपसे—वही अग्नि जलती है । दोनों ही काव्योंका प्लाट यह है कि युवराज राजभ्रष्ट होकर भाई और स्त्रीके साथ वनवासी बने, फिर लड़कर विजयलक्ष्मी पाकर अपना राज्य करने लगे । छोटी छोटी घटनाओंमें भी यही बात पाई जाती है । लव-कुशका काम मणिपुरमें बभ्रुवाहनने कर दिखाया । मिथिलामें धनुर्भंग हुआ, पञ्जाबमें भी उसी धनुष्यकी क्रियासे मत्स्यवेध हुआ । दशरथ और पाण्डुका पाप और शाप बहुत कुछ मिलता जुलता है । लंकादाह और लाक्षाभवनकी लीलामें भी घटना-सादृश्य है ।

हमारे इस कथनका यह आशय न समझ लिया जाय कि रामायण और भारतके पात्र पृथ्वीपर पैदा ही नहीं हुए, या उन्होंने इन काव्योंमें वर्णित कार्य्योंको नहीं किया। वे सब लोग हुए और उन्होंने उन कार्य्योंको भी किया। किन्तु उनके उन कार्य्योंका वर्णन परवर्ती कवियोंके द्वारा किया गया— और उनमें परवर्ती कविने पूर्ववर्ती कविका बहुत कुछ अनुकरण किया और पूर्ववर्ती कविने भी लोकपरम्पराके मुखसे सुने गये उपाख्यानके वर्णन करनेमें अपनी कवित्वशक्तिका उपयोग किया। इसी कारण हमने इन दोनों ग्रंथोंको, इतिहास होनेपर भी, महाकाव्य कहा है।

आपका जी चाहे तो आप महाभारतको रामायणका अनुकरण न कहें; परन्तु याद रखिए, अनुकृत और अनुकारीमें इससे अधिक समानता आपको बहुत कम मिलेगी। मगर देखिए, हमारी समझमें महाभारत रामायणका अनुकरण होकर भी पृथ्वीमें अद्वितीय है। अगर इसकी तुलना हो सकती है तो कुछ अंशोंमें रामायणसे। परन्तु, संपूर्ण नहीं। क्योंकि महाभारतमें बहुतसे नवीन पात्र और घटनायें ऐसी हैं जो रामायणमें नहीं हैं। महाभारतके श्रीकृष्ण, बलराम, भीष्म, कर्ण, सुभद्रा आदि रामायणमें नहीं हैं। पात्रोंके स्वभावोंमें भी, स्थूलरूपसे समता होनेपर भी, सूक्ष्मरूपसे अन्तर है। एक सीता और द्रौपदीको ही लीजिए। द्रौपदीकी प्रचण्डता और तेजस्विता सीताजीमें नहीं है; केवल उसकी झलक रावणको अशोक-वाटिकामें फटकारते समय सीताजीमें पाई जाती है।

साहित्यको देख चुके, अब समाजको देखिए। जब रोमवालोंको यूनानकी सभ्यताका पता लगा, तब वे मन-वाणी-कायासे उसका अनुकरण करने लगे। उसका फल यह हुआ कि किकरो ऐसे वक्ता, तासितस ऐसे इतिहास-लेखक, वर्जिल ऐसे महाकवि, प्लाटस और टेबिन्स ऐसे नाटककार, होरेस और ओबिदा ऐसे गीतकाव्य बनानेवाले, पेपिनियन ऐसे व्यवस्थाकार, सेनेका ऐसे धर्मनीतिप्रणेता, आन्तनैन ऐसे राजधर्म पालनेवाले और कुकालस ऐसे भोगासक्त पुरुष रोममें दिखाई पड़े। जनसाधारणका ऐश्वर्य दिन दिन बढ़ा और सम्राटोंने अपनी सौन्दर्य-प्रियताका परिचय देनेवाली बड़ी बड़ी इमारतें बनवाईं। यूरोपका हाल ऊपर लिखा ही जा चुका है। इटली और फ्रान्सका

साहित्य भी ग्रीस और रोमके साहित्यका अनुकरण है। यूरोपका व्यवस्था-शास्त्र रोमके व्यवस्थाशास्त्रका अनुकरण है। यूरोपकी शासनप्रणाली भी रोमके अनुकरणपर संगठित हुई है। कहीं वह 'इम्पिरेटर' है, कहीं वही 'फोरम' है, कहीं वही 'प्लेब' श्रेणी है, कहीं वही 'म्यूनिसिपियम' है। आधुनिक यूरोपका स्थापत्य (गृह-निर्माणकला) और चित्रविद्याका मूल भी यूनान और रोमसे आया है। ये सब चीजें पहले-पहल अनुकरण मात्र थीं। अब अनुकरण छोड़कर और भी उन्नत होकर इन सब बातोंमें यूरोपियन लोग अपने गुरुसे भी बढ़े चढ़े हैं। मगर ऐसा होनेके लिए प्रतिभाकी बड़ी आवश्यकता है। प्रतिभाशाली लोग पहले अनुकरण करते हैं और फिर उसका अनुशीलन, अभ्यास और आलोचना करके स्वतन्त्रतापूर्वक पूर्वगामियोंसे आगे बढ़ जाते हैं। जो बच्चा पहले लिखना सीखता है, उसे पहले गुरुके हस्ताक्षरोंका अनु-करण करना पड़ता है। अन्तको उसके अक्षर अलग हो जाते हैं, और प्रतिभा होने पर तथा अभ्यास करने पर वह गुरुसे भी अच्छा लिख सकता है।

परन्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिभासे शून्य मनुष्य अगर अनुकरण करता है, तो उसका फल अच्छा नहीं होता। जिसमें जिस बातकी स्वाभाविक शक्ति नहीं, वह उस बातका सदा अनुसरण ही किया करता है, उसमें कुछ अपनी विचित्रता या स्वतन्त्रता दिखानेकी शक्ति कभी नहीं देख पड़ती। यूरोपके नाटक इसका एक उत्तम उदाहरण हैं। यूरोपकी जातियोंमें जो नाटककार हुए हैं, सबने यूनानी नाटकोंका अनुकरण किया है। किन्तु प्रतिभाशाली होनेके कारण स्पेन और इँग्लैंडके नाटक शीघ्र ही स्वतन्त्र रूपसे लिखे जाने लगे और इंग्लैंडने इस विषयमें ग्रीसके बराबर आसन जमा लिया। इधर इस विषयमें प्रतिभा अर्थात् स्वाभाविक शक्तिसे शून्य रोम, इटली, फ्रान्स और जर्मनीके लेखक केवल अनुकरण करनेवाले ही बने रहे। बहुत लोग कहते हैं कि रोम आदि देशोंके लोग जो नाटक-रचनामें स्पेन और इंग्लैंडके समकक्ष न हो सके, इसका कारण और कुछ नहीं उनके अनुकरणका अनुराग ही है। लेकिन यह भ्रम है। इसका कारण अनुकरणका अनुराग नहीं, उनमें नाटक-रचनाकी स्वाभाविक शक्तिका न होना ही है। अनुकरणकी इच्छा भी एक कार्य है, कारण नहीं।

अनुकरण ।

'अनुकरण' को आजकल लोग गालीसे बढ़कर समझते हैं। इसका कारण यही है कि प्रतिभाशून्य लोगोंकी अनुकरणमें प्रवृत्ति और उसका बुरा फल देख कर लोगोंको उसपर अश्रद्धा या अरुचि हो गई है । असमर्थ मनुष्यके लिए अनुकरणसे बढ़कर हँसीकी बात और नहीं है। एक तो वह खुद बुरा, उसपर उसका अन्ध अनुकरण करना किसको अच्छा लगेगा ?

यदि प्रतिभाशाली व्यक्ति अनुकरण करे तो वह कभी घृणाके योग्य नहीं। हम लोगोंकी इस समय जो दशा हो रही है, उसे देखते हमारी अनुकरणकी प्रवृत्ति बुरी या अनुचित नहीं कही जा सकती। हमारी समझमें तो ऐसा अनुकरण मनुष्यके स्वभावसे ही सिद्ध है। ऐसा अनुकरण करनेमें अगर कोई हिन्दुस्तानियोंको दोप दे, तो हमें तो उसका कोई यथेष्ट कारण नहीं देख पड़ता। यह तो मनुष्यका स्वभावसिद्ध गुण (या दोप) है। जब उत्कृष्ट और निकृष्ट मिलते हैं तब निकृष्टको उत्कृष्टके समान होनेकी अभिलाषा होना एक स्वाभाविक बात है। समान होनेका उपाय क्या है ? उपाय यही है कि उत्कृष्ट लोग जैसा करते हैं, निकृष्ट लोग भी वैसा ही करें। इसीको अनुकरण कहते हैं। आजकलके हिन्दुस्तानी लोग देखते हैं कि अँगरेज लोग सभ्यतामें, शिक्षामें, बलमें, ऐश्वर्यमें, सुखमें, विद्यामें सब बातोंमें उनसे श्रेष्ठ हैं। तब हिन्दुस्तानी लोग क्यों न अँगरेजोंके समान होना चाहेंगे ? हिन्दुस्तानी लोग समझते हैं कि अँगरेज लोग जो जो करते हैं, उसका अनुकरण करनेसे हम भी उन्हींके ऐसे सभ्य, शिक्षित, सम्पन्न और सुखी हो जायँगे। चाहे कोई भी जाति हो, हिन्दुस्तानियोंकी सी अवस्थामें आकर वह भी यही करती। यह अनुकरण-प्रवृत्ति केवल हिन्दुस्तानियोंके स्वभावका दोष नहीं है। कमसे कम उच्च जातियोंके हिन्दू आर्योंके वंशमें उत्पन्न हैं। उनके शरीरमें इस समय भी आर्योंका रक्त लहरें मार रहा है। वे कभी वानरोंकी तरह केवल अनु-करण-प्रिय नहीं हो सकते। उनके अनुकरणका कुछ उद्देश्य है। उनका अनुकरण स्वाभाविक और अन्तमें मङ्गलदायक हो सकता है। जो लोग हमें अँगरेजोंकी पोशाक, रहन-सहन और खाने-पीनेका अनुकरण करते देख कर जल उठते हैं, वे अँगरेजोंको फ्रान्सके खान-पान और पहनावेका अनु-करण करते देखकर क्या कहेंगे ? अनुकरण करनेमें क्या अँगरेज लोग

हिन्दुस्तानियोंसे कम हैं ? भला, हम जो अनुकरण करते हैं वह तो अपनी जातिके प्रभुओंका करते हैं; मगर अँगरेज किसका अनुकरण करते हैं ?

हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि आधुनिक हिन्दुस्तानी जितना अनुकरण कर रहे हैं, उतनेकी आवश्यकता नहीं। हिन्दुस्तानियोंमें प्रतिभाहीन अनुकरण करनेवाले ही अधिक हैं और वे प्रायः गुणोंका अनुकरण न कर दोषोंके ही अनुकरणमें तत्पर देख पड़ते हैं। यही बड़े दुःखकी बात है। हिन्दुस्तानी लोग गुणोंका अनुकरण करनेमें उतने निपुण नहीं हैं, मगर दोषोंका अनुकरण करनेमें वे पृथ्वीमण्डलमें अपना सानी नहीं रखते। इसी लिए लोग हिन्दुस्तानियोंकी अनुकरणपर प्रवृत्तिको गालियाँ देते हैं, और इसी कारण राजनारायणजीने इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, हम उसमेंसे बहुतसी बातोंको स्वीकार करते हैं।

अनुकरण करनेवाला प्रतिभाशाली होनेपर भी, अनुकरणमें दो भारी दोष दिखाई देते हैं। एक तो उससे विचित्रताके विकासमें विघ्न होता है। इस संसारमें विचित्रताका सुख भी एक प्रधान सुख है। पृथ्वी भरके सब पदार्थ अगर एक ही रंगके होते, तो जगतका दृश्य क्या इतना सुखदायक कभी हो सकता था ? यदि सब शब्द एक ही तरहके होते—मान लो, सब शब्द कोयलका स्वर ही होते—तो बतलाओ मधुर कुहु-स्वर कानोंको कभी अच्छा लगता? हममें यदि वैचित्र्यसुखका अनुराग न होता तो चाहे वह अच्छा भी लगता, लेकिन इस समय जिस प्रकृतिको लेकर मनुष्य-जाति पैदा हुई है उसमें विचित्रताके बिना सुख नहीं—स्वाद नहीं। अनुकरणकी प्रवृत्ति उस वैचित्र्यके मार्गमें कण्टक है। हम मानते हैं कि शेक्सपियरका मैकबेथ नाटक एक उत्तम नाटक है; किन्तु यदि पृथ्वीके सब नाटक मैकबेथके अनुकरणहीपर लिखे गये होते, तो फिर नाटक देखनेमें क्या सुख या स्वाद रह जाता ? सभी महाकाव्य अगर रघुवंशके आदर्शपर लिखे जाते तो फिर कौन महाकाव्य पढ़ता ?

दूसरा दोष अनुकरणमें यह है कि उससे शीघ्र किसी काममें उन्नति नहीं होती। संसारका नियम है कि चाहे जिस कामको आप ले लीजिए, उसमें वारम्बार यत्न करते रहनेसे ही उन्नतिकी संभावना होती है। किन्तु यदि

पर-वर्ती कार्य पूर्व-वर्ती कार्यका अनुकरण मात्र हुआ, तो चेष्टा किसी नई राह-पर नहीं जाती। यही कारण है कि उस कार्यमें उन्नति नहीं होने पाती। तब फल यह होता है कि बहुत दिनों तक एक ही ढंग चला जाता है। इस बातको क्या शिल्प, साहित्य, विज्ञान;—और क्या सामाजिक कार्य या मानसिक अभ्यास;—सबमें आप आजमाकर देख सकते हैं।

विचार करनेसे जान पड़ेगा कि मनुष्यकी दैहिक और मानसिक वृत्तियोंकी एक साथ ही यथोचित स्फूर्ति और उन्नति ही मनुष्य-देह धारण करनेका प्रधान उद्देश्य है। मगर जिससे उनमेंसे कुछ वृत्तियाँ अधिक पुष्ट हों, और कुछके प्रति अवज्ञा उत्पन्न हो, वह कार्य मनुष्यके लिए अवश्य ही अनिष्टकारी है। मनुष्य अनेक हैं और एक मनुष्यके सुख भी अनेक हैं। उन सब सुखोंकी सिद्धिके लिए बहुत तरहके भिन्न भिन्न कार्योंके करनेकी आवश्यकता है। वे भिन्न भिन्न प्रकारके कार्य भिन्न भिन्न प्रकृतिके लोगोंके बिना सुसम्पन्न नहीं हो सकते। एक श्रेणीके चरित्रवाला आदमी अनेक श्रेणीके अनेक कार्य नहीं कर सकता। अतएव संसारमें चरित्र-वैचित्र्य, कार्य-वैचित्र्य, और प्रवृत्ति-वैचित्र्यकी बड़ी जरूरत है। इसके सिवा समाजकी सर्वाङ्ग उन्नति नहीं हो सकती। इस वैचित्र्यकी उन्नतिमें ही समाजकी भलाई है। अनुकरण प्रवृत्तिका फल यही होता है कि अनुकरण करनेवालेके चरित्र, प्रवृत्ति और कार्य अनुकृतके ऐसे हो जाते हैं—अनुकरण करनेवाला दूसरे मार्गपर नहीं जा सकता (लेकिन यह नियम विशेष कर प्रतिभाहीन लोगोंके लिए ही लागू है); और जब समाजके सभी लोग या अधिकांश लोग, अथवा काम करनेवाले लोग, एक ही आदर्शका अनुकरण करने लगते हैं तब यह वैचित्र्यकी हानि हो जाती है। मनुष्य-चरित्रका सम्पूर्ण विकास नहीं होता; सब प्रकारकी मानसिक वृत्तियोंमें सामञ्जस्य नहीं रहता; सब तरहके काम सुसम्पन्न नहीं होते; मनुष्यको सब प्रकारके सुख नसीब नहीं होते। मनुष्यत्व असम्पूर्ण रह जाता है, समाज असम्पूर्ण रह जाता है, मनुष्य-जीवन असम्पूर्ण रह जाता है।

हमारे इस सब कथनका सारांश यही है कि—

(१) सामाजिक सभ्यताकी उत्पत्ति दो तरहसे है—कोई समाज आपसे सभ्य होता है; और कोई समाज दूसरे समाजसे शिक्षा प्राप्त करता है।

पहले प्रकारसे बहुत दिन लगते हैं, और दूसरे प्रकारसे, बहुत शीघ्र कार्य सिद्ध हो जाता है।

(२) जब कोई अपेक्षाकृत असभ्य जाति अत्यन्त सभ्य जातिसे हिलने मिलनेका अवसर पाती है तब वह सभ्यताकी राहपर बड़ी तेजीसे दौड़नेकी कोशिश करती है, और प्रतिभा होनेसे अपनी चेष्टामें सफलता भी प्राप्त करती है। ऐसी जगहपर सामाजिक गति ऐसी होती है कि अपेक्षाकृत असभ्य अशिक्षित समाज अपनेसे अधिक सभ्य शिक्षित समाजका अनुकरण सब बातोंमें करने लगता है। यही स्वाभाविक नियम है।

(३) अतएव हिन्दुस्तानियोंके आधुनिक समाजमें दिखाई देनेवाली वह अनुकरण-प्रवृत्ति न अस्वाभाविक है और न हिन्दुस्तानियोंके स्वाभाविक दोषसे उत्पन्न हुई है।

(४) अनुकरण-मात्रसे अनिष्ट नहीं होता। अगर अनुकरणमें कुछ दोष हैं तो उसमें गुण भी हैं। प्रतिभाहीन—विचित्रताहीन—का अन्ध अनुकरण दो कौड़ीका होता है। प्रतिभाशाली मनुष्य (या जाति) पहले अनुकरण करता है और पीछे अभ्यास हो जानेपर स्वतन्त्र रूपसे उसीमें उन्नति करता है। हमारे हिन्दुस्तानियोंकी जैसी अवस्था है, उसे देख कर यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती कि इनकी अनुकरण-प्रवृत्ति अच्छी नहीं। इस अनुकरणप्रवृत्तिमें आशाकी झलक भी पाई जाती है।

(५) परन्तु अन्ध-अनुकरणमें एक बड़ा भारी दोष भी है। वह यह कि अनुकरणयोग्य प्रथम अवस्था निकल जाने पर भी अगर अनुकरणकी प्रवृत्ति प्रबल बनी रही; अथवा अनुकरणके योग्य समयमें ही बराबर अनुकरणकी प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई, अर्थात् अनुकरणका अभ्यास बढ़ता गया, तो बहुत ही शीघ्र सर्वनाश उपस्थित होता है।

(६) अनुकरण करनेवाले हिन्दुस्तानी अगर इन बातोंपर ध्यान देकर सँभल कर काम करें, तो वे शीघ्र ही अपने गुरुओंके उत्तम शिष्य बनकर सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।



प्राचीना और नवीना।

हमारे समाज-संस्कारक लोग नई कीर्ति स्थापित करनेके लिए जैसे व्यग्र हैं, वैसे समाजकी गति देखनेमें मन नहीं लगाते। "यह होनेसे अच्छा होता है, इसलिए यह करो" यही उनकी उक्ति है। किन्तु यह कोई नहीं देखता कि क्या करनेसे क्या हो रहा है। हिन्दुस्तानी लोग अँगरेजी पढ़ें, इसमें सभीका उत्साह देखा जाता है। किन्तु इसका फल क्या हो रहा है, इसकी समालोचना अभी कुछ ही दिनोंसे होने लगी है। एक श्रेणीके लोग कहते हैं कि अँगरेजी शिक्षाके फल माइकेल मधुसूदनदत्त (मेघनादवध, वीरांगना आदि काव्योंके कर्त्ता), द्वारकानाथ मैत्र आदि हैं। दूसरी श्रेणीके लोग कहते हैं कि दस पाँच फल सुपक्व सुमधुर अवश्य हैं, किन्तु अधिकांश फल तीखे और विषमय हैं। इसके उदाहरणमें वे मद्यपायी बाबुओंके दलको और साधारण बंगाली लेखकोंके झुण्डको पेश करते हैं। उसके बाद कुछ दिनोंसे धूम मची हुई है कि स्त्रियोंकी अवस्थाका संस्कार करो, स्त्री-शिक्षाका प्रचार करो, विधवाओंका फिर ब्याह कर दो, स्त्रियोंको घरके पिंजड़ेसे निकालकर उड़ा दो, बहुविवाहकी प्रथा उठा दो, और अन्यान्य प्रकारसे मखनिया, बतसिया, गुलबियाको विलायती मेम बना डालो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम ऐसा कर सकें तो बहुत अच्छा हो, किन्तु यदि मखनिया कभी विलायती मेम हो सकती है, तो ऐसी आशा की जा सकती है कि हमारे यहाँका साखूका पेड़ भी एकदिन 'आक' का पेड़ बन जायगा। जिन रीतियोंका प्रचलन इस समय असंभव था वे प्रचलित नहीं हुईं। स्त्रीशिक्षा संभव थी, इस कारण उसका चलन हो गया है और होता जा रहा है। इस समय अपेक्षाकृत अधिक शिक्षित बंगाली आदि जातियोंकी स्त्रियाँ पुस्तकोंसे जो शिक्षा पारही हैं वह तो अति सामान्य है। परिवर्त्तनशील समाजमें रहनेके कारण अर्थात् शिक्षित और अँगरेजोंका अनुकरण करनेवाले पिता, भाई, पति आदिके संसर्गमें रहनेसे उनको जो शिक्षा प्राप्त हो रही है वही प्रबलतर है। इस दो प्रकारकी शिक्षाका फल क्या देख पड़ रहा है? अँगरेजी पढ़े लिखे नवयुवकोंके चरित्रमें जैसा परिवर्तन देखा जा रहा है, वैसे ही परिवर्त्तनके कुछ लक्षण स्त्रियोंके चरित्रमें भी देख पड़ते हैं या नहीं? यदि देख

पड़ते हैं तो वे अच्छे हैं या नहीं? उनके लिए उत्साह देना आवश्यक है या उनका दमन उचित है? प्रायः साधारण लेखकोंको इन प्रश्नोंकी आलोचना करते नहीं देखा जाता। किन्तु इस विषयसे बढ़कर भारी सामाजिक तत्त्व भी और कोई नहीं है। इसीसे कहते हैं कि हमारे समाज-संस्कारक लोग नई कीर्ति स्थापित करनेके लिए जैसे व्यग्र हैं, वैसे समाजकी गति देखनेमें और उसकी आलोचना करनेमें मन नहीं लगाते।

विषय बहुत ही गुरुतर है। समाजमें स्त्रीजातिका जो बल है, उसका वर्णन करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं जान पड़ती। माता बाल्यकालमें शिक्षा देती है, स्त्री मन्त्रीका काम देती है, इत्यादि पुरानी बातोंको फिरसे दुहरा-नेका कुछ प्रयोजन नहीं है। सभी जानते हैं कि स्त्रियोंकी सम्मति और सहा-यताके बिना संसारका कोई बड़ा काम सम्पन्न नहीं होता। गहना गढ़ाने और बैल खरीदनेसे लेकर फ्रेंच राजविप्लव और लूथरके धर्मविप्लव तक सब काम स्त्रीकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं। फ्रान्सकी स्त्रियोंने फ्रेंच राज्यवि-प्लवमें महारथीका काम किया था।

यह कहा जा सकता है कि हमारे शुभाशुभका मूल हमारे कर्म होते हैं। कर्मोंकी मूल प्रवृत्ति और अनेक स्थानोंमें हमारी सब प्रवृत्तियोंका मूल हमारी स्त्रियाँ ही हैं। अतएव स्त्रीजाति हमारे शुभाशुभका मूल है। स्त्रीजातिके महत्त्वका कीर्त्तन करते समय ये सब बातें कहनेकी प्राचीन प्रथा है, इसीसे हमने भी यहाँपर ये बातें कही हैं। किन्तु इन बातोंका जो लोग व्यवहार करते हैं उनका आन्तरिक भाव यही है कि पुरुष ही मनुष्यजाति है। जो पुरुषोंके लिए शुभाशुभका विधान कर सकता है वही गुरुतर विषय है। स्त्रियाँ पुरुषोंके शुभाशुभका विधान कर सकती हैं, इसीसे उनकी उन्नति और अवनतिका विषय गुरुतर विषय है। किन्तु हमारे कहनेका यह तात्पर्य नहीं है। हमारा कथन यह है कि स्त्रियाँ संख्यामें पुरुषोंके बराबर या उनसे अधिक हैं। इसलिए वे समाजका आधा अंश हैं। वे मर्दोंके शुभाशुभका विधान करनेवाली हों या न हों, उनकी उन्नतिसे समाजकी उन्नति है। जैसे पुरुषोंकी उन्नतिसे समाजकी उन्नति है वैसे ही स्त्रियोंकी उन्नतिसे भी समाजकी उन्नति है। क्योंकि स्त्रियाँ समाजका आधा अंश हैं। स्त्री-पुरुषोंके

समान-भागके समूहको समाज कहते हैं। दोनोंकी समान उन्नतिसे समाजकी उन्नति है। यह कहना नीतिके विरुद्ध है कि एक भागकी उन्नति समाज-संस्कारका मुख्य उद्देश्य है, और उस भागकी उन्नतिमें सहायक होनेहीके कारण अन्य भागकी उन्नति गौण उद्देश्य है।

किन्तु समाजके नियामक लोग सर्वदा सभी देशोंमें इस भ्रममें पड़े हुए देख पड़ते हैं। वे लोग यह विधान किया करते हैं कि स्त्रियाँ इस इस तरहका आचरण करें। क्यों करें? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि वैसा करनेसे पुरुष-जातिकी अमुक भलाई होगी या अमुक बुराई निवृत्त होगी। समाज-संचालकोंकी सर्वत्र यही उक्ति सुन पड़ती है, समाज-संचालकोंका यही उद्देश्य सर्वत्र विद्यमान है। अन्तर इतना ही है कि कहीं उद्देश्य स्पष्ट है और कहीं अस्पष्ट। इसी कारण स्त्रीके सतीत्वके लिए इतना दबाव डाला गया है। किन्तु पुरुषमें उसी धर्म—एकपत्नीव्रत—का अभाव होनेसे वह उतना बड़ा दोष नहीं गिना जाता। वास्तवमें अगर नीतिशास्त्रके मूलपर ध्यान दिया जाय तो ऐसा कोई विषय ही नहीं पाया जाता, जिसके द्वारा स्त्री-कृत व्यभिचार पुरुष-कृत परस्त्रीगमनकी अपेक्षा गुरुतर दोष समझा जा सके। पाप दोनों ही समान हैं। एक पुरुषकी पत्नी स्त्रीपर उस पुरुषका जैसा स्वाभाविक अधिकार है, ठीक वैसा हीं स्वाभाविक अधिकार एक स्त्रीके स्वामी मर्दपर उस औरतका है तथापि पुरुष अगर इस नियमका लंघन करता है, तो वह उसकी शौकीनी समझी जाती है और स्त्री अगर वही दोष करती है तो उसके लिए संसारके सब सुख नष्ट हो जाते हैं—वह अधमसे भी अधम और कोढ़ीसे भी बढ़कर अस्पृश्य समझी जाती है। क्यों? पुरुषके सुखके लिए स्त्रीका सतीत्व आवश्यक है। वैसे ही स्त्रीजातिके सुखके लिए भी पुरुषके इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकता है। किन्तु पुरुष ही समाज हैं, स्त्रियाँ कुछ नहीं हैं। अतएव स्त्रीका पतिव्रतसे च्युत होना समाजमें गुरुतर पाप समझा गया और पुरुषोंके लिए नैतिक बन्धन शिथिल रहा।

सभी समाजोंमें स्त्रीजाति पुरुषोंकी अपेक्षा कम उन्नत है। पुरुषोंका अपने प्रति पक्षपात ही इसका कारण है। पुरुष बलशाली हैं। इस कारण समाजका सब काम पुरुषोंके हाथमें है। इसी कारण स्त्रियोंको पुरुषोंके

बाहुबलके अधीन होकर रहना पड़ता है। आत्मपक्षपाती पुरुषगण जहाँतक आत्मसुखका प्रयोजन है, वहाँतक स्त्रियोंकी उन्नतिपर ध्यान देते हैं—उससे अधिक रत्ती भर भी नहीं। यह बात अन्यान्य समाजोंकी अपेक्षा हमारे देशमें अधिक सत्य है। हम प्राचीन समयकी बात नहीं कहना चाहते। उस समय तो स्त्रियोंको सदा पुरुषके अधीन रहनेकी विधि थी। केवल अवस्थाविशेषके विना स्त्रियोंको धनका अधिकार न था। स्त्रीके धनाधिकारिणी होनेपर भी वह उस धन-सम्पत्तिको न दान कर सकती थी और न बेच सकती थी। उनके सती होनेकी चाल थी, बहुत दिनोंसे विधवा-विवाहका निषेध प्रचलित था, विधवाओंके लिए कठिन नियम प्रचलित थे। उस समय स्त्री–पुरुषोंमें जो घोर वैषम्य था उसके इतने ही प्रमाण यथेष्ट हैं। उसके उपरान्त, मध्यकालमें भी स्त्रियोंकी अधिक अवनति देखी जाती है। मर्द प्रभु था, स्त्री दासी थी। वह जल भरती थी, भोजन बनाती थी, बर्तन माँजती थी, घर बुहारती थी, कूटना कूटती थी, पीसना पीसती थी। तनख्वाह पानेवाली दासीके लिए तो थोड़ी बहुत स्वाधीनता भी होती है, किन्तु औरत, लड़की और बहनको वह भी नहीं थी। आज कल पुरुषोंकी शिक्षाके कारण हो, या स्त्रियोंकी शिक्षाके कारण हो, या अँगरेजोंके दृष्टान्तसे हो, अवस्थामें परिवर्त्तन हो रहा है। किन्तु जिस तरहका परिवर्त्तन हो रहा है उसका सभी अंश क्या उन्नतिसूचक है? देशके युवकोंकी जो हालत बदल रही है, उसका तो विशेष आन्दोलन सुन पड़ता है; किन्तु देशकी युवतियोंकी अवस्थाका जो परिवर्त्तन हो रहा है, वह क्या उन्नति है?

इस प्रश्नका उत्तर देनेके पहले यह स्मरण रखनेकी आवश्यकता है कि देशकी स्त्रियाँ पहले किस रूपमें थीं और अब उनका क्या रूप हो रहा है। प्राचीना स्त्रियोंके साथ नवीना स्त्रियोंकी तुलना आवश्यक जान पड़ती है। पहलेकी स्त्रियाँ लाखकी चूड़ियोंके जोड़े हाथोंमें पहनती थीं, शरीरपर लहँगा और दुपट्टा रहता था, कामके समय धोती पहने, हाथमें झाड़ू लिये घर बुहारतीं या रसोईके काममें लगी देख पड़ती थीं। उनकी माँगमें सेंदुरकी मोटी रेख, नाकमें नथ, दाँतोंमें मिस्सी और पीछे पर्वतकी चोटीके समान ऊँची चोटी देख पड़ती थी। हम स्वीकार करते हैं कि उस जमानेकी अधि-

कांश स्त्रियाँ जब कमर कसे, झाड़ू हाथमें लिये, ऊँची चोटी खड़ी किये, नथ हिलातीं सामने खड़ी हो जाती थीं, तब अनेक पुरुषोंका हृदय धड़क उठता था। जो पुरुष इस प्रकार आँगनमें खड़ी हुई रसीली स्त्रीके साथ वादानुवाद करनेका साहस करते थे, वे जरा सावधान होकर दूर खड़े होते थे। उस जमानेकी अधिकांश स्त्रियाँ लड़ने-झगड़नेमें खूब पक्की होती थीं। बात बातपर बिगड़कर झाड़ू मार देनेकी धमकी देना भी उनका एक साधारण स्वभाव था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी भाषा साधुभाषा थी। क्योंकि वे आधुनिक 'प्राणनाथ' 'प्रियतम' शब्दोंकी जगह 'दाढ़ीजार' 'डोकरा' आदि निपात-साध्य शब्दोंका और 'सखी' 'बहन' आदि शब्दोंकी जगह 'हरामजादी' 'कलमुँही' आदि शब्दोंका प्रयोग करती थीं।

इस समय जिन सुन्दरियोंने अपने महावरसे रँगे हुए चरणोंद्वारा देश-भूमिको उज्ज्वल कर रक्खा है, उनकी प्रकृति भिन्न प्रकारकी है। पुराने जमानेकी सजधज—मोटी सेंदुरकी रेखा, मिस्सी, काजल, लहँगा, दुपट्टा आदि—कुछ भी नहीं है। पूर्वोक्त सम्बोधन भी अब उनके मुखसे नहीं सुन पड़ते। इस समय लहँगे-दुपट्टेके पुराने पहनावेकी जगह महीन और बढ़िया 'पाँचपाढ़' की धोती 'रूप' के जहाजकी 'पाल' बनकर सोहाग और आदरकी हवामें फरफराया करती है। चमचा, करछुई, झाड़ू, सुई-डोरेकी जगह अब उनके हाथमें कार्पेट और किताब देख पड़ती है। धोती एड़ीके नीचे तक रहती है। चोटी खुली हुई पीठपर पड़ी रहती है। शरीरमें दो एक सोफियानें गहनोंके सिवा और अलंकार नहीं देख पड़ते। धूल और कीचड़में काम करनेवाली कुलकामिनियाँ साबुन, एसेंस आदिकी महिमा समझ गई हैं। उनकी कलकण्ठध्वनि पपीहेकी सी आकाशको गुँजा देने-वाली न होकर बहुत ही धीमी हो गई है। कहनेका मतलब यह कि प्राचीना स्त्रियोंकी अपेक्षा नवीना स्त्रियोंकी रुचि कुछ अच्छी है। स्त्रियोंकी रुचिका कुछ संस्कार हुआ है।

किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि अन्यान्य विषयोंमें भी वैसी ही उन्नति हुई है। कई बातोंमें हम नवीना स्त्रियोंको निन्दाके योग्य समझते हैं। उनकी किसी तरहकी निन्दा करना हमारे लिए बड़ी बेअदबीकी बात

है; तथापि चन्द्रमाके साथ उनकी उपमा सम्पूर्ण करनेके लिए उनके कुछ कलंक यहाँपर दिखलाये जाते हैं।

१—उनका पहला दोष आलस्य है। प्राचीना स्त्रियाँ बहुत ही परिश्रम करनेवाली और गिरिस्तीके कामोंमें निपुण थीं। नई स्त्रियाँ बिल्कुल बाबू बनी हुई हैं। जलके ऊपर कमलकी तरह स्थिर भावसे बैठकर स्वच्छ दर्पणमें आप ही अपना रूप देखकर वे दिन बिता देती हैं। घरके कामकाजकी देखरेख प्रायः दासियोंको करनी पड़ती है। इससे बहुत कुछ अनिष्ट हो रहा है। एक तो शारीरिक परिश्रम न करनेके कारण स्त्रियोंके शरीर निर्बल और रोगोंके घर बनते जा रहे हैं। पहले जमानेकी स्त्रियोंके शरीर स्वास्थ्य ठीक रहनेके कारण अपूर्व लावण्यसे युक्त थे। इस समय वह स्वास्थ्यका सलोनापन केवल निम्न श्रेणीकी स्त्रियोंमें पाया जाता है। नवीना स्त्रियोंके नित्यके रोगभोगसे उनके स्वामी, पिता-पुत्र आदि सदा दुःखी और चिन्तित रहते हैं। गृहस्थी भी इसी कारण विश्रृंखलायुक्त और दुःखसे परिपूर्ण हो उठती है। गृहिणी यदि रोग-शय्यापर पड़ी रहती है, तो घरकी भी रौनक जाती रहती है। धनका ध्वंस होता है और बाल-बच्चोंका भी अच्छी तरह पालन-पोषण नहीं किया जा सकता। इससे उनके भी स्वास्थ्यकी हानि होती है और उनको अच्छी शिक्षा नहीं मिलती। घरमें सर्वत्र दुर्नीतिका प्रचार होता है। जो लोग प्यार करते हैं, वे भी नित्य रोगीकी सेवाके दुःखको सह नहीं सकते। इससे स्त्री-पुरुषके प्रेममें भी कमी होती है। यदि माता असमयमें ही मर गई, तो उससे बच्चोंका ऐसा अनिष्ट होता है कि वे जन्मभर उसका फल भोगते हैं। यह सच है कि अँगरेज जातिकी स्त्रियाँ भी आलस्यके अधीन देख पड़ती हैं; किन्तु वे घोड़ेकी सवारी, वायुसेवन इत्यादि स्वास्थ्यरक्षक व्यायामोंको नित्य नियमित रूपसे करती रहती हैं। हमारे घरके पिंजड़ेकी चिड़ियाँ उन व्यायामोंको नहीं कर सकतीं।

स्त्रियोंके आलस्यका और एक भारी कुफल यह है कि उनकी सन्तान दुर्बल और कम जीनेवाली होती है। माताके ध्यान न देनेसे ही अक्सर बच्चे नित्यरोगी देखे जाते हैं, और उनकी अकालमृत्यु तक हो जाती है। बहुत लोग कहते है कि पहले इतने रोग न थे, इस समय नित्य रोगोंका

सामना रहता है; पहले लोग दीर्घजीवी होते थे, इस समय थोड़ी ही अवस्थामें मर जाते हैं । बहुत लोगोंका विश्वास है कि यह सब कालकी महिमा है—कलियुगके कारण ये सब अस्वाभाविक बातें हो रही हैं । बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि स्वाभाविक नियम कभी समयके फेरसे बदल नहीं सकते । यदि इस समयके लोग बहुरोगी और अल्पायु होते हैं, तो अवश्य ही उसका कोई स्वाभाविक कारण है । उन सब स्वाभाविक कारणोंमें प्रधान कारण माताका परिश्रम न करना ही है । जिस देशके लोगोंकी उन्नतिका भरोसा शारीरिक बलके ऊपर निर्भर है, उस देशमें माताओंमें आलस्यकी ऐसी वृद्धि निस्सन्देह बहुत ही शोचनीय बात है ।

आलस्यका तीसरा कुफल यह है कि नवीना स्त्रियाँ घरके कामोंको नहीं जानतीं—उनमें उन्हें कुछ भी निपुणता नहीं है । वे कभी उन कामोंको नहीं करतीं, इसीसे सीखती भी नहीं हैं । इससे अनेक अनिष्ट होते हैं । प्राचीना स्त्रियाँ, बहुत ही अमीर घरकी न होने पर, पानी भरती थीं, बर्तन माँजती थीं, आँगनमें झाड़ू देती थीं । रसोई बनाना उनका एक प्रधान कार्य था । यह कुछ उचितसे अधिक भी था। हम नवीना स्त्रियोंसे इतना सब करनेके लिए नहीं कहते । जिसकी जैसी अवस्था है वह उसीके अनुसार काम करे, इतना ही यथेष्ट है । किन्तु केवल कार्पेट बुनकर या किताब पढ़कर समय बिताना हमारी समझमें ठीक नहीं । परस्परका सुख बढ़ानेके लिए सबका जन्म हुआ है । जिस स्त्रीने पृथ्वीपर आकर पलँगपर लेटे लेटे, सामने आईना रख कर, बाल सँवारनेमें, कार्पेट बुननेमें, पुस्तक पढ़नेमें और सन्तान उत्पन्न करनेमें ही समय बिता दिया, अपने सिवा और किसीके सुखको नहीं बढ़ाया, वह स्त्री पशुजातिकी अपेक्षा कुछ अच्छी चाहे मानी जा सकती हो, किन्तु उसका स्त्री-जन्म निरर्थक है । ऐसी स्त्रियोंको हम फाँसी लगाकर मर जानेकी सलाह देते हैं। क्यों कि वैसा करनेसे अनेक निरर्थक भारोंकी यन्त्रणासे पृथ्वी बच जायगी।

गृहिणी अगर गृहकर्म नहीं जानती, तो चिररोगिणी गृहिणीके घरकी तरह उसके घरकी सब बातोंकी श्रृंखला नष्ट हो जाती है । धनसे कुछ उपकार नहीं होता, अनर्थक व्यय होता है, घरमें खरीद कर लाई गई सामग्री लुट जाती है—आधेके लगभग नौकर-चाकर और आने-जानेवाले

लोग टहला देते हैं। बहुत धन खर्च होने पर भी खानेपीनेकी सामग्री कम पड़ जाती है। अच्छी सामग्रीकी लागत लगाकर भी बुरी सामग्री काममें लानी पड़ती है। घरके स्वामीको अच्छी चीज खाने-पीने बरतनेको नहीं मिलती। घरकी औरतोंमें अनबन पैदा हो जाती है। अतिथि-अभ्यागतका उपयुक्त सत्कार नहीं होता। घर कण्टकमय जान पड़ने लगता है।

२—नवीना स्त्रियोंका दूसरा दोष धर्मसे सम्बन्ध रखता है। हम इस समयकी देशकी स्त्रियोंको अधार्मिक नहीं कहते। देशके नवयुवकोंकी अपेक्षा वे धर्मभक्त और विशुद्ध हृदयकी हैं। किन्तु प्राचीना स्त्रियोंकी अपेक्षा धर्मका भाव उनमें अवश्य कम है। विशेष कर जो धर्म गृहस्थके धर्म कहलाते हैं, उनकी आज कलकी युवतियोंमें कमी देखकर कष्ट होता है।

स्त्रियोंका पहला धर्म पातिव्रत्य है। पातिव्रत्य धर्ममें अबतक इस देशकी स्त्रियाँ अद्वितीय हैं। किन्तु पहले जो था वह क्या अब भी है? इस प्रश्नका उत्तर जल्दी नहीं दिया जा सकता। पुराने जमानेकी स्त्रियोंका पातिव्रत्य जिस तरह प्रेमकी दृढ़ गाँठसे हृदयमें बँधा हुआ था—पातिव्रत्य जैसे उनकी अस्थि, मज्जा और रक्तमें बसा हुआ था, वैसे ही वही बात, क्या नये जमानेकी स्त्रियोंमें भी है? अनेक स्त्रियोंमें वही बात है, किन्तु क्या अधिकांश स्त्रियोंमें वही बात पाई जाती है? नये जमानेकी स्त्रियाँ पतिव्रता अवश्य हैं, किन्तु उन्हें जितना लोक-निन्दाका भय है, उतना धर्मका भय नहीं है।

इसके सिवा दान आदिमें पुराने जमानेकी स्त्रियोंकी जैसी रुचि थी, वैसी रुचि नये जमानेकी स्त्रियोंमें नहीं पाई जाती। तबकी स्त्रियोंको दृढ़ विश्वास था कि दान परमार्थका कार्य है। जो दान करता है, वह स्वर्गको जाता है। अबकी स्त्रियोंको स्वर्गपर उतना दृढ़ विश्वास नहीं है—उनको परलोकमें स्वर्ग पानेकी कामना उतनी प्रबल नहीं है। अँगरेजी सभ्यताके फलसे देशमें अनेक प्रकारकी सामग्रीकी अधिकता होनेसे सबको धनकी अधिक आवश्यकता हो गई है। स्त्रियोंको भी धनकी अधिक आवश्यकता हो गई है। इसीसे इस समय दानमें स्त्रियोंका उतना अनुराग नहीं देख पड़ता। उतना दान करनेसे उनका खर्च पूरा नहीं होता। रुपयेसे जो सुख खरीदे जाते हैं, उनकी संख्या और विचित्रता बढ़ गई है। दानमें अधिकता होनेसे इस

समय अनेक सुखोंसे वञ्चित होना पड़ेगा। इस लिए स्त्रियाँ (और पुरुष भी) इस समय उतना दान नहीं करतीं।

हिन्दुओंका एक प्रधान धर्म अतिथि-सत्कार है। जो घरमें आवे उसे आहार आदिके द्वारा प्रसन्न करनेमें इस देशके लोगोंकी बराबरी करनेवाली कोई जाति न थी। तबकी स्त्रियोंमें यह गुण विशेष रूपसे वर्तमान था। अबकी स्त्रियोंसे यह धर्म एकदम उठ गया है। घरमें अतिथि अभ्यागतके आने पर तबकी स्त्रियाँ अपनेको कृतार्थ समझती थीं, किन्तु अबकी स्त्रियाँ खीझ उठती हैं। किसीको खिलानेमें तबकी स्त्रियोंको सबसे बढ़कर सुख मिलता था, किन्तु अबकी स्त्रियाँ इस कामको घोर विपत्ति समझती हैं।

धर्म-भावमें अबकी स्त्रियाँ जो तबकी स्त्रियोंसे निकृष्ट हैं, इसका एक विशेष कारण असम्पूर्ण शिक्षा है। लिखने-पढ़ने या अन्य प्रकारसे जो कुछ शिक्षा उन्हें प्राप्त होती है, उसीसे वे यह समझ बैठती हैं कि प्राचीन धर्मका शासन अमूलक है। इसीसे उसके प्रति विश्वास खोकर धर्मके बन्धनसे खिसक पड़ती हैं। उस बन्धनकी जगह और किसी नवीन बन्धनकी गाँठ नहीं लगती। हम लिखने पढ़नेकी निन्दा नहीं करते। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि धर्मके सिवा विद्यासे बढ़कर कीमती चीज संसारमें और कोई नहीं है। किन्तु सर्वत्र विद्याका फल यही देखा जाता है कि उससे आँखें खुलती हैं। विद्या पढ़कर आदमी मिथ्याको मिथ्या और सत्यको सत्य समझता है। विद्याके फलसे मनुष्य प्राचीन धर्मशास्त्रोंके कहे हुए धर्मके मूलमें अलीकता देख पाता है, परन्तु प्राकृतिक सत्य धर्मको सत्य समझ सकता है। अतएव विद्यासे धर्मकी हानि नहीं, बल्कि वृद्धि ही होती है। साधारणतः यही देखा जाता है कि पण्डित जैसे धर्मिष्ठ होते हैं, मूर्ख वैसे ही पापिष्ठ होते हैं। किन्तु थोड़ी विद्यामें यह दोष है कि धर्मकी मिथ्या जड़ तो उससे कट जाती है, परन्तु सत्य-धर्मकी स्वाभाविक जड़ नहीं स्थापित होती। सत्य-धर्मकी जड़ स्थापित होनेके लिए कुछ अधिक ज्ञानकी आवश्यकता होती है।

परोपकार करना चाहिए, यह यथार्थ धर्मनीति है। मूर्ख भी इसे जानता है, और मूर्ख-मण्डलीमें जिनमें धर्मभाव है वे भी इसके अनुगामी होते हैं। इसका कारण यह है कि यह नैतिक आज्ञा प्रचलित धर्मशास्त्रोंमें लिखी

हुई है। मूर्खका उसपर यह विश्वास है कि वह दैव या ईश्वरकी आज्ञा है। ईश्वरीय विधिको न माननेसे इस लोक और परलोकमें भी हानि होगी, इसी भयसे मूर्ख उक्त नीतिका अनुगामी होता है। पण्डित भी उक्त नीतिके अनुगामी होते हैं। किन्तु वे केवल धर्मशास्त्रमें कही जानेके कारण उक्त नीतिके अनुगामी नहीं होते। वे जानते हैं कि धर्मके कुछ प्राकृत्तिक नियम हैं, वे अवश्य पालनीय हैं, और परोपकारकी विधि उन्हीं सब नियमोंका फल है। अतएव इस स्थानपर विद्यासे धर्मकी क्षति नहीं हुई।

किन्तु यदि कोई केवल इतनी ही विद्याकी आलोचना करे कि उसके द्वारा प्राचीन धर्मशास्त्रोंसे विश्वास उठ जाय और प्राकृतिक धर्मके विश्वासकी सीमातक उसकी विद्या-चर्चा न पहुँचे, तो फिर उसके लिए धर्मकी कोई जड़ न रह जायगी। लोकनिन्दाका भय ही उसके लिए एकमात्र धर्मका बन्धन हो उठता है, पर यह बन्धन बहुत ही कमजोर होता है। आधुनिक अल्पशिक्षित युवकों युवतियोंकी और कुछ कुछ ऐसी ही अवस्था है। इस कारण धर्मके अंशमें वे तबकी स्त्रियोंके बराबर नहीं हैं। जो लोग स्त्रीशिक्षाके लिए व्यग्र हैं उनसे हम पूछते हैं, कि आप लोग बालकबालिकाओंके हृदयसे प्राचीन धर्मबन्धनको हटाते हैं, तो उसकी जगहपर क्या स्थापित करते हैं?

तीन ढंग।

नम्बर १।

बंगदर्शनमें 'नवीना और प्राचीना' लेख किसने लिखा है? चाहे जिसने लिखा हो, लेखकने समझ लिया है कि अबला स्त्रीजाति कुछ नहीं कहेगी, अतएव जो जीमें आवे सो लिख डालो। वह लेखक नहीं जानता कि झाड़ू ही स्त्रियोंका शस्त्र है।

अच्छा, नवीन महाशय, आपने नवीना और प्राचीना स्त्रियोंके गुणों और दोषोंकी तुलना की है। तो क्या नवीन और प्राचीन पुरुषोंकी तुलना नहीं हो सकती? तुलना करनेसे दोषका पल्ला किधर झुकेगा?

तीन ढंग।

प्राचीन पुरुषोंकी अपेक्षा नवीनोंमें अधिक गुण यही देख पड़ता है कि तुम लोगोंने अँगरेजी पढ़ ली है। किन्तु अँगरेजी पढ़कर तुमने किसका क्या उपकार किया है? मैं तो देखती हूँ, अँगरेजी पढ़कर तुम केवल क्लर्की करना सीख गये हो। किन्तु मनुष्यत्व? सुनो, प्राचीन और नवीन पुरुषोंमें भेद क्या है। प्राचीन लोग परोपकारी थे; तुम लोग केवल अपना उपकार करना जानते हो। प्राचीन लोग सत्यवादी थे, तुम लोग केवल प्रियवादी हो। प्राचीन लोग पिता-माताकी भक्ति करते थे, तुम लोग भक्ति करते हो पत्नी या उप-पत्नीकी। प्राचीन लोग देवता-ब्राह्मणकी पूजा करते थे, तुम्हारे देवता गोरी जाति और तुम्हारे ब्राह्मण सुनार हैं। प्राचीन लोग पौत्तलिक (मूर्त्तिपूजक) थे, तो तुम लोग बोतलिक हो। सिंहवाहिनी 'शक्ति'की जगह तुम बोतल-बाहिनी मदिराकी उपासना करते हो। ब्राण्डी, रम, बियर तुम्हारे ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। तुम लोग भ्रातृस्नेह उसके प्रति दिखाते हो, जिसकी लड़कीसे अपना लड़का ब्याहना चाहते हो। घोड़े और कुत्तेके प्रति पुत्र-वात्सल्य दिखाते हो। पितृभक्ति आफिसके मेनेजर साहबके प्रति और मातृभक्ति रसोई बनानेवाली महाराजिनके प्रति दिखाते हो। यह सच है कि हम अतिथि-अभ्यागतके आनेसे उसे महाविपत्ति समझती हैं, किन्तु तुम लोग तो उन्हें गरदनिया देते हो। हममें आलस्य है; किन्तु तुम लोग केवल आलसी ही नहीं हो—तुम लोग बाबू हो! अँगरेज बहादुर नाकमें नाथ डालकर तुमको कोल्हूके बैलकी तरह घुमाते हैं; बल न होनेके कारण तुम घूमते हो। इधर हम भी तुमको नाकमें रस्सी डालकर घुमाती हैं और बुद्धि न होनेके कारण तुम मजेसे घूमते हो। हमने अच्छी तरह लिखना-पढ़ना नहीं सीखा, इससे हमारे धर्मबन्धन नहीं है, और तुम्हारे? तुम्हारे धर्मका बन्धन बहुत दृढ़ है! क्योंकि तुम्हारे उस बन्धनकी रस्सीको एक ओर मदिराका व्यापारी और दूसरी ओर वेश्या पकड़े खींच रही है। तुम लोग तो धर्मकी रस्सीसे शराबकी गैलन गलेमें बाँधकर प्रेमके सागरमें फाँद रहे हो और बेचारी नवीना स्त्रियोंपर खूनका इलजाम लगाया जाता है! तुम्हें धर्मका भय क्या है? तुम किसे मानते हो? ठाकुर-देवताको? ईसामसीहको? धर्मको मानते हो? पुण्य मानते हो? कुछ नहीं—केवल हमारे इन महावरसे रँगे कड़े--छड़े--बलय आदिसे विभूषित श्रीचरणोंको मानते हो; सो भी लातोंके डरसे।

—श्रीचण्डिकासुन्दरी देवी।

नम्बर २।

संपादक महाशय, इन किंकरियोंने आपके श्रीचरणोंमें क्या अपराध किया है? हम क्या जानती हैं? आप सिखावें, हम सीखेंगी—आप गुरु हैं, हम शिष्या हैं। किन्तु शिक्षा देना और बात है, और निन्दा करना और बात है। बंग-दर्शनमें नवीनाओंके प्रति इतनी कटूक्ति क्यों की गई है?

हम स्वीकार करती हैं कि हममें हजारों दोष हैं। एक तो स्त्री, दूसरे हिन्दुस्तानीकी लड़की; एक तो कड़वा करेला, दूसरे नीम-चढ़ा—दोष क्यों न होंगे? किन्तु यह अवश्य है कि हमारे कुछ दोष आप लोगोंहीके गुणसे उत्पन्न हुए हैं। आप लोगोंके गुणसे, दोषसे नहीं। आप लोग हमपर इतना प्यार न करते, तो हममें इतने दोष न होते। आप लोगोंने हमको सुखी किया है, इसीसे हम आलसी हैं। अंगसे आँचल खिसक जाता है, तो उसे आप अपने हाथसे ठीक कर देते हैं। आप लोग पानी होकर जिस कमलि-नीको हृदयमें धारण करते हैं, वह क्यों न स्वच्छ जलमें अपने रूपकी छाया देखकर दिन बितावे?

हम लोग अतिथि-अभ्यागतकी ओर ध्यान नहीं देतीं, तो इसका कारण यही है कि हम लोग स्वामी पुत्र आदिके प्रति अधिक ध्यान देती हैं। हमारे छोटेसे हृदयमें आप लोगोंने इतना स्थान ले लिया है कि अन्य धर्मोंके लिए स्थान ही नहीं है।

और आप क्या समझते हैं कि हम धर्मको नहीं डरतीं? छिः! धर्मसे डरनेके कारण ही मैं आपको और कुछ नहीं कह सकी। आप लोग ही हमारा धर्म हैं। आप लोगोंसे डरनेके कारण ही हम अन्य धर्मका भय नहीं करतीं। सब धर्म-कर्मोंको हमने स्वामी और पुत्रको अर्पण कर दिया है। हम अन्य धर्म नहीं जानतीं। लिखना पढ़ना सिखाकर आप हमें किस धर्ममें बाँधना चाहते हैं? चाहे जितना लिखाइए पढ़ाइए—हम हिन्दूकी लड़की हैं—सब बन्धनोंको तोड़कर पातिव्रत्यके बन्धनमें आप ही बँधी रहेंगी। यदि इसमें अधर्म हो, तो वह आप ही लोगोंका दोष है। और यदि मुझ ऐसी ढीठ बालिकाकी चञ्चलताको क्षमा कीजिए, तो मैं यह पूछती हूँ कि आप गुरु हैं हम शिष्य हैं—आप हमें कौनसा धर्म सिखाया करते हैं?

लिखना-पढ़ना सीखें ? क्यों ? तुम्हारा मुखचन्द्र देखनेमें जितना सुख है, उतना ही सुख क्या लिखने-पढ़नेमें भी है ? तुम्हें सुखी बनानेमें जो धर्मशिक्षा होती है, वह क्या लिखने पढ़नेमें प्राप्त हो सकती है ? देखो तुम लोगोंको देखकर हमने आत्मत्याग सीखा है । भला लिखना पढ़ना क्या उसकी शिक्षा दे सकता है ? और लिखना पढ़ना सीखें किस समय ? तुम्हारे ध्यान और दर्शनमें ही दिन बीत जाता है—लिखना पढ़ना सीखनेका अवकाश कहाँ है ?

छिः ! दासियोंकी भी निन्दा ! —श्रीलक्ष्मीमणि देवी ।

नम्बर ३ ।

भला, किस रसिकचूड़ामणिने " नवीना और प्राचीना " लिखा है ?

लेखक महाशय ! तुमने जो कुछ कहा सब सच है—एक बात भी झूठ नहीं है। हम आलसी अवश्य हैं, किन्तु यदि हम आलसी न होकर काम करती फिरतीं, तो तुम्हारी दशा क्या होती ? यह बिजली यदि तुम्हारे हृदयाकाशमें स्थिर न रहती, तो तुम किसकी ओर देखकर इस दुःख-दारिद्र्यमय जीवनको व्यतीत करते ? यह बिजली स्थिर न रहती तो तुम इस अन्धकारपरिपूर्ण संसारमें कहाँ प्रकाश पाते ? हम काम करें ? करेंगी, हानि क्या है ! किन्तु देखो, हमको दम भर न देखकर तैलशून्य दीपककी तरह एकाएक बुझ न जाना—जलशून्य मछलीकी तरह तड़फने न लगना—रखवालेसे छूटे हुए बछड़ेकी तरह बँबाकर घर न भर देना। हम काम करने जायँगी, किन्तु तुम फिर इस लहराते हुए रूपको न देख पाओगे ! इस कलकण्ठध्वनिको दम भर न सुननेसे गीतमुग्ध हरिणकी तरह संसार-काननमें शब्दकी खोज करते फिरोगे !—वाहरे भाग्य ! फिर भी कहते हो कि हम काम नहीं करतीं !

हम अतिथि-अभ्यागतको खानेको नहीं देतीं; दें क्या, तुम घरमें कुछ रखते ही नहीं हो। मालूम नहीं, अँगरेजोंके दफ्तरमें क्या सिफत है, जानेके समय तो कन्हैया बनकर जाते हो—और लौटते हो तब कुंभकर्ण बनकर आते हो ! अपना अपना पेट—एक एक अधमने बोरेके समान ! हम हिन्दूकी लड़की हैं, इसीसे उसे किसी तरह तीस सेर ठूँस कर भर देती हैं। इस पर भी अतिथि-अभ्यागतकी बात चलाते हो !

धर्मके बन्धनमें बाँधोगे ? हानि क्या है। किन्तु हम जिन बन्धनोंमें बँधी हैं, उन बन्धनोंसे बढ़कर धर्मका बन्धन नहीं है। बल्कि धर्मका बन्धन उन बन्धनोंसे कोमल है। खैर, हमारे उन बन्धनोंको तुम ले लो। हम लिखना-पढ़ना सीख कर अपनेको धर्मके बन्धनसे जकड़नेके लिए राजी हैं। हमारी बड़ी इच्छा है कि एक बार तुम लोगोंकी अवस्थाके साथ अपनी अवस्था बदल लें। गाली-गलौज करनेके पहले जरा अपने और हमारे सुख-दुखका हिसाब करके देख लो। हमारे मरनेपर तुमको ब्रह्मचर्यसे रहना होगा, तुम किसी तरहका आनन्द नहीं मना सकोगे। तुम्हारे स्वर्गारोहणके उपरान्त हम दुबारा ब्याह करेंगी। और जीवित अवस्थामें तुम लोग बच्चा जनोगे, रसोईकी देखरेख करोगे, घरके कामकाज होने पर मूँछोंपर घूँघट काढ़ कर स्त्रियोंके आचार करोगे। तुम्हारे सुखकी सीमा नहीं रहेगी। हम जवानीमें किताबें हाथमें लेकर कालेजमें जायँगी, कालेजकी पढ़ाई समाप्त होने पर कोट पटलून डाँट कर दफ्तर जायँगी। टाउनहालमें नथ हिला-हिलाकर स्पीचें देंगी, चश्मेके भीतरसे इन नेत्रोंके चंचल कटाक्षोंद्वारा सृष्टि-स्थिति-प्रलय करेंगी, और शौकिया धर्मकी रस्सी गलेमें डाल कर संसार-गोशालामें खली-भूसी खायँगी। हानि क्या है! तुम अवस्थाका विनिमय करोगे? किन्तु एक बातके लिए सावधान किये देती हूँ। तुम जब मान करके बैठोगे—और हम मनाने बैठेंगी, जब मुख रुआसा बनाकर, रसभंगीके साथ कानोंके आभूषण जरा हिलाकर, इन भ्रमरयुक्त कमलतुल्य नेत्रोंसे एक बार कटाक्ष करके, इन आभूषणभूषित हाथोंसे तुम्हारे पैर पकड़ेंगी—तब? तब क्या तुम लोग हमारी तरह 'मान' की मानरक्षा कर सकोगे?

बड़ाइ छोड़कर वही करो; तुम घरके भीतर बैठो—हम दफ्तर जायँ। जो सात सौ वर्षोंसे दूसरोंके जूते उठाते आ रहे हैं, वे भी मर्द हैं? कहते लज्जा नहीं आती? ※

—श्रीरसमयी देवी।

※ पहलेका प्रबन्ध 'बंग-दर्शन' मासिकपत्रमें 'प्राचीना और नवीना' शीर्षक देकर प्रकाशित हुआ था। उसके बाद ये तीन कल्पित पत्र लिखकर, स्त्रियोंकी ओरसे जो उत्तर दिये जा सकते थे, वे दिये गये थे।

लोक-शिक्षा।

लोक-संख्याकी गणना करके जाना गया है कि भारतमें रहनेवाले हिन्दु-ओंकी संख्या ३३ करोड़के लगभग है। शायद पृथ्वीपर ऐसा कोई काम ही सम्पन्न नहीं होता, जिसे इतने आदमी मिलकर न कर सकते हों। किन्तु हमारे द्वारा कोई भी काम सिद्ध नहीं होता। इसका कारण है। लोहेका औजार बननेपर उसके द्वारा पत्थर तक तोड़ा जा सकता है; किन्तु लोहेमात्रमें तो यह गुण नहीं है। लोहेको अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे प्रस्तुत, गठित और तेज करना पड़ता है, तब लोहा ईस्पात होकर काटता है। ऐसे ही मनुष्यको प्रस्तुत, उत्तेजित और शिक्षित करना पड़ता है, तब उसके द्वारा कार्य होता है। भारतके इन करोड़ों आदमियोंके द्वारा कोई कार्य न होनेका कारण यह है कि भारतमें लोक-शिक्षाका अभाव है। जो लोग भारतकी तरह तरहकी उन्नति करनेमें लगे हैं, वे लोक-शिक्षाकी बातपर ध्यान नहीं देते, अपनी अपनी विद्या-बुद्धि प्रकट करनेमें ही लगे रहते हैं। मामला कम आश्चर्यका नहीं है।

यह कभी संभव नहीं कि विद्यालयमें पुस्तकें पढ़ाकर, व्याकरण, साहित्य और ज्यामिति सिखाकर इन करोड़ों लोगोंको शिक्षा दी जा सके। यह शिक्षा ही नहीं है और उक्त उपायोंसे यथार्थ शिक्षाकी प्राप्ति असंभव है। सब चित्तवृत्तियोंकी प्रकृत अवस्था, अपने अपने कार्यमें निपुणता और कर्त्तव्य-कार्यमें उत्साह जिससे हो वही शिक्षा है। मेरा यही विश्वास है कि व्याकरण और ज्यामितिसे वह शिक्षा नहीं होती और बड़े बड़े सुशिक्षित-नामधारियोंसे लेकर साधारण पढ़े लिखे मनुष्यों तक किसी भी अँगरेजी-नवीसके मुखसे इस बारेमें कोई बात आज तक नहीं सुन पड़ी।

यूरोपमें इस प्रकारकी लोक-शिक्षा अनेक उपायोंसे हुआ करती है। प्रशिया आदि अनेक देशोंमें, सर्वसाधारणको इस प्रकारकी शिक्षा दी जाती है। इन देशोंमें अखबार लोक-शिक्षाका एक प्रधान उपाय हैं। अखबारोंसे लोक-

शिक्षा कैसे होती है, यह बात शायद इस देशके लोग सहजमें समझ नहीं सकते।

इस देशकी हर एक भाषामें अधिकसे अधिक बीस बीस पचीस पचीस अखबार निकलते हैं। (अब इस संख्यामें वृद्धि हो गई है।) इनमेंसे किसीके ग्राहक दो सौ हैं, किसीके ग्राहक पाँच सौ हैं। अखबारोंके तमाम पाठकोंकी संख्या दस पाँच हजार या इससे कुछ अधिक होगी। किन्तु यूरोपके हर एक देशमें सैकड़ों, यहाँ तक कि कहीं कहीं हजारों अखबार निकलते हैं। एक एक अखबारके ग्राहक हजारों और लाखों हैं। उनको पढ़नेवालोंकी संख्या लाखों--करोड़ोंके लगभग है। इसके ऊपर हर एक नगरमें कई कई सभायें हैं। गाँव गाँवमें वक्तृतायें हुआ करती हैं। जिसको जो कहना होता है, वह अपने परोसियोंको जमा करके व्याख्यानमें उनको वह समझा देता है। वह बात सैकड़ों अखबारोंमें छप जाती है। सैकड़ों भिन्न भिन्न ग्रामों और नगरोंमें प्रचारित और विचारित होती है। लाखों लोग उस बातको पढ़कर उससे शिक्षा प्राप्त करते हैं और एक एक भोजनके निमन्त्रणमें ही स्वादिष्ट भोजन करते करते यूरोपके लोग जिस शिक्षाको प्राप्त करते हैं, उस शिक्षाका अनुभव ही हमें नहीं हो सहता। हमारे देशमें जो थोड़ेसे अखबार हैं, उनकी दुर्दशाकी बात तो पहले ही कही जा चुकी है। रही वक्तृतायें, सो वे तो लोकशिक्षाकी राह होकर भी नहीं जातीं। इसके बहुतसे कारणोंमें एक प्रधान कारण यह है कि वक्तृतायें प्रायः देशीभाषाओंमें नहीं दी जातीं। उन्हें बहुत ही कम लोग सुनते हैं, बहुत ही कम लोग पढ़ते हैं और बहुत ही कम लोग समझते हैं। इसके सिवा अधिकांश वक्तृताओंके असार होनेके कारण और भी कम लोग उनसे शिक्षा पाते हैं।

इस समय ऐसी दशा होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सदासे यहाँ लोक-शिक्षाके उपायका अभाव चला आरहा है। लोक-शिक्षाका उपाय न था, तो शाक्यसिंहने किस तरह सारे भारतवर्षको बौद्धधर्मकी शिक्षा दी? विचार कर देखो, बौद्धधर्मके कूट-तर्कोंको समझनेमें हमारे आधुनिक दार्शनिकोंके सिरका पसीना पैरों आता है। कलकत्ता--रिव्यूमें इसके प्रमाण मौजूद है कि मैक्समूलर उन तर्कोंको समझ नहीं सके। वही कूट-तत्त्वमय, निर्वाणवादी, अहिंसाप्रधान दुर्बोध्य धर्म शाक्यसिंह और उनके

शिष्योंने सारे भारतवर्षको—गृहस्थ, परिव्राजक, पण्डित, मूर्ख, काम-काजी, उदासीन, ब्राह्मण, शूद्र सबको—सिखलाया था । लोक-शिक्षाका क्या उस समय उपाय नहीं था ? शङ्कराचार्यजीने उसी दृढ़बद्धमूल दिग्विजयी साम्यप्रधान बौद्धधर्मको लुप्त करके फिर समग्र भारतवर्षको वेदान्तकी शिक्षा दी । उस समय क्या लोकशिक्षाका उपाय नहीं था ? अभी कुछ ही दिन हुए; बंगालके चैतन्यदेवने उड़ीसे भरको वैष्णवधर्ममें दीक्षित कर लिया । पर अब देखते हैं कि राममोहनरायसे लेकर कालेजके लड़के तक—सभी—ब्राह्मधर्मकी घोषणा करते फिरते हैं, किन्तु लोग उसे नहीं सीखते । अर्थात् पहले लोकशिक्षाके उपाय थे, पर अब नहीं हैं ।

यहाँ लोकशिक्षाका एक बहुत सुन्दर उपाय था । वह उपाय यहाँ कथा बाँचनेकी प्रथा थी । आज कथा बाँचनेकी प्रथाका प्रचार एकदम नष्ट न हो जाने पर भी वह निस्सार और विकृत हो गई है । उस जमानेमें कथा बाँचनेवाले व्यास मस्तकमें चन्दनका तिलक और गलेमें सुगन्धित पुष्पोंकी माला धारण किये व्यासगद्दीपर बैठकर सीताके सतीत्व, अर्जुनके वीरधर्म, लक्ष्मणके सत्यव्रत, भीष्मके इंद्रियजय, राक्षसीके प्रेम-प्रवाह, दधीचिके आत्म-समर्पण, हरिश्चन्द्रकी कठोर परीक्षा आदि विषयोंकी सुन्दर व्याख्या मधुर कण्ठसे सबके सामने सुनाते थे। किसान, रोजगारी, नीचजातिके लोगतक उसके द्वारा सहजमें सुशिक्षा पाते थे। साधारण श्रोता तकको उससे यह ज्ञान होता था कि धर्म नित्य है, धर्म देव है, अपना ही खयाल रखना अश्रद्धाकी बात है, जीवन पराये लिए ही मिला है, ईश्वर हैं, वे विश्वकी सृष्टि, उसका पालन और संहार करते हैं । वे यह जान जाते थे कि पाप पुण्य है, पापका दण्ड और पुण्यका पुरस्कार है, अहिंसा परम धम है—लोकहित परम कार्य है । ऐसी शिक्षा देनेवाले कथक अब कहाँ गये ? जो कुछ अब ऐसे वक्ता हैं भी, वे इस कारण उस कामको छोड़ बैठे हैं कि आजकलके नवशिक्षित सम्प्रदायके लोग उनसे अरुचि रखते हैं । कथा बाँचनेवालोंको हरामखोर तक कहनेमें संकोच नहीं करते । प्राचीन इतिहास पुराणोंकी सभी बातोंको गप्प मान कर उनपर अश्रद्धा प्रकट करते हैं । ब्रांडी पीना, वेश्याके मुँहसे " आज रंगीले रसिया देखे मैंने " सुननेमें जिन्हें लाभ समझ पड़ता है,

और लोक-शिक्षाप्रचारिणी कथाके प्रचारमें हानि, उन अल्पशिक्षित, स्वधर्म-भ्रष्ट, कदाचार, दुराशय, असार, बात करनेके अयोग्य लोगोंके दोषसे अब कथाकी प्रथा उठ जानेमें अधिक विलम्ब नहीं है। अँगरेजी-शिक्षाके गुणसे भारतमें क्रमशः लोक-शिक्षाका उपाय लुप्त ही होता जा रहा है।

अँगरेजी शिक्षाको मैं इस लिए दोष दे रहा हूँ कि इससे ऊपर लिखे दोषके अलावा एक दोष यह हो जाता है कि शिक्षित और अशिक्षितमें सहानुभूति नहीं रहती। अँगरेजीमें ही बातचीत करनेकी सनक रखनेवाले बाबू लोग अशिक्षितोंके हृदयको नहीं समझते। शिक्षित लोग अशिक्षितोंके ऊपर दृष्टि ही नहीं डालते। कल्लू किसान किसानीके कामोंमें जुटकर जान दे, हमें उसका फल भोगनेसे मतलब। कल्लूके दिन किस तरह बीतते हैं, उसे क्या दुख और क्या सुख है, उसपर हमारे यहाँके शिक्षित बाबूलोग रत्तीभर ध्यान नहीं देते। शिक्षितोंके लंबे चौड़े व्याख्यान पढ़कर विलायतके बड़े बड़े अँगरेज मुग्ध और चकित हो भी गये, तो उससे फल कुछ नहीं। शिक्षितोंके मनकी बात, उनका वक्तव्य विदेशी भाषामें होनेके कारण अगर कल्लू किसानकी मण्डली—जिसकी संख्या फी-सदी नव्वेसे भी अधिक है—कुछ भी न समझ सकी तो वह निष्फल है। कोरे यशसे क्या होगा? अँगरेजोंके मुग्ध और चकित होनेसे क्या होगा? जब तक देशीभाषामें अपना वक्तव्य कल्लूकी मण्डलीको सुनाकर उसे हम 'लोकमत' का रूप न देंगे, तब तक उसका पूरा असर नहीं पड़ सकता। करोड़ों अशिक्षितोंके मूक, क्रन्दनसे आकाश फटा जाता है। पर वे क्या करें? उनको शिक्षा नहीं मिली है—उनके पास अपने भाव प्रकट करनेकी भाषा नहीं है। सुशिक्षित लोग उनसे मिलकर, देशी भाषामें अपना वक्तव्य प्रकटकर उन्हें शिक्षित नहीं बनाते।

सुशिक्षित लोग जो समझते हैं, अशिक्षितोंको एकत्र करके अपनी भाषामें वह कुछ कुछ समझा देनेसे लोग सहजमें शिक्षित हो सकते हैं। लोक-शिक्षाका यह सहज सुन्दर उपाय है। यह बात भारतमें सर्वत्र प्रचारित होनी चाहिए। इसके लिए सुशिक्षितोंको अशिक्षितोंसे हेलमेल बढ़ाना होगा। सुशिक्षित और अशिक्षितोंमें सहानुभूतिका भाव होना

चाहिए। यह हेलमेल बढ़ानेका सबसे अच्छा उपाय देशी भाषामें पुस्तकें लिखना और लेक्चर आदि देना है।

—:०:—

रामधन पोद।

बंगलाके साहित्यमें एक ही रोना सुन पड़ता है कि बंगालियोंके बाहुमें बल नहीं है। इस अभिनव अभ्युत्थानके समय बंगालियोंके मुखसे यही सुन पड़ता है कि हाय, बंगालियोंके बाहुमें बल नहीं है। बंगालियोंके सब दुःखोंकी जड़ केवल बाहुमें बल न होना ही है।

अगर पता लगाया जाय कि बंगालियोंके बाहुमें बल क्यों नहीं है, तो उसका यही एक उत्तर मिलेगा कि बंगालियोंको पेटभर खानेको नहीं मिलता—बंगालमें अन्न नहीं है। जैसे एक माताके बहुत बच्चे होनेपर कोई भरपेट दूध नहीं पाता, वैसे ही हमारी जन्मभूमि बहुतसी संतानोंकी माता होनेके कारण उससे प्राप्त अन्नसे सबको पूरा आहार नहीं मिलता। शायद बंगालकी ऐसी प्रजावृद्धि पृथ्वीके किसी देशमें न होगी। बंगालकी अतिशय प्रजावृद्धि ही उसकी अवनतिका कारण है। प्रजाकी बहुलतासे अन्नाभाव, अन्नाभावसे अपुष्टि, अजीर्ण, ज्वर और मानसिक दुर्बलता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

बहुत लोग कहेंगे, देखो देशमें अनेक बड़े आदमियोंके लड़के हैं जिनको कुछ भी कष्ट नहीं है, किन्तु वे भी तो अनाहारी चांडाल पोद (बंगालकी एक नीच जाति) की अपेक्षा दुर्बल हैं। बड़े आदमियोंके लड़के ही वास्तवमें वानराकार हो रहे हैं। यह सच है, किन्तु एक पीढ़ीमें अन्नाभावका दोष दूर नहीं होता। जो पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे वानराकार हो रहे हैं, वे एक पीढ़ी भरपेट भोजन पानेसे ही मनुष्याकार नहीं बन जाते। खासकर बड़े आदमियोंके लड़कोंकी बात तो छोड़ ही दो। वे हिल-डुलकर कोई काम नहीं कर सकते। इस कारण भूखकी कमीसे तैयार भोजनको भी खा नहीं सकते—खाये हुए आहारको पचा नहीं सकते। सभी देशोंमें ऐसे बाबुओंका दल वानरा-

कार हुआ करता है। श्रमजीवी साधारण दरिद्र लोगोंका बाहुबल ही देशका बाहुबल है। बहुत लोग बिगड़कर कहेंगे कि अपना यह कठिन मन्तव्य रहने दो।

ये बातें तो हमने अक्सर सुनी हैं। क्यों, अगर देशमें खाने भरको अन्न नहीं होता तो यूरोपके भिन्न भिन्न देशोंमें इतने चाँवल और गेहूँ यहाँसे कैसे भेजे जाते हैं? इस संप्रदायके लोग यह नहीं समझते कि देशमें यथेष्ट सामग्री न रहनेपर भी वह विदेश भेजी जा सकती है। जो अधिक दाम देगा, उसके हाथ चीज बिकेगी।

इस देशमें अगर कोई चीज यथेष्ट होती है तो वह चाँवल है। चाँवलके बिना आहार न करनेका अवसर जिनको दुर्भाग्यवश प्राप्त होता हो, उन लोगोंकी संख्या इस देशमें बहुत ही कम है। बंगालके अधिकांश लोगोंको, और चाहे कुछ नसीब न हो, लेकिन सुसमय होनेपर, चाँवलकी कमी नहीं रहती। पेटभर भात प्रायः हरएक बंगाली पा जाता है। किन्तु पेटभर भात खा लेनेसे ही आहारकी पूर्ति नहीं हो सकती। केवल भात खाकर प्राणरक्षा मात्र की जा सकती है—उसके शरीरकी पुष्टि नहीं हो सकती। चाँवलमें बलकारक सार पदार्थ सौ भागमें सात भाग मात्र है। चर्बी, जो शरीरकी पुष्टिके लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है, चाँवलमें बिलकुल नहीं है।

केवल भात खानेवाले लोग अगर कम नहीं हैं तो अधिक भी नहीं हैं। बंगालके अधिकांश लोग भातके साथ जरा दालका पानी, एकआध मछलीका टुकड़ा और साग आलू या कच्चे केलेकी तर्कारी मिलाकर खानेको पाते हैं, तो उसे अच्छी तरह भोजन करना समझ लेते हैं। इस भोजनमें प्रायः पौने सोलह आने एक पाई भर भात दाल और दो पाई भर सालन रहता है। ऐसे भोजनको एक प्रकारसे 'सूखी रोटी खाना' ही कह सकते हैं। बंगालके चौदह आने भर लोग इसी तरहका आहार करते हैं। किसी तरहकी बाधा या विघ्न न उठ खड़ा हो, तो इतनेसे भी जीवनरक्षा हो सकती है, और होती ही है। किन्तु ऐसे शरीरमें रोग बहुत सहजमें अपना घर बना लेते हैं (मलेरिया ज्वर इस बातका साक्षी है) और ऐसे शरीरमें बल नहीं रहता। इसी लिए बंगालियोंके बाहुबल नहीं है।

इन्हीं सब बातोंपर सोच विचार कर बहुत लोग कहते हैं कि जब तक बंगाली साधारणतः मांसाहार न करेंगे, तबतक उनके बाहुबल न होगा। हम यह बात नहीं कहते। मांसका प्रयोजन नहीं है। दूध, घी, आटा, मैदा, दाल, चने, अच्छी साग-सब्जी, यही उत्तम आहार है। इसका दृष्टान्त युक्त प्रान्तके आदमी हैं। वे लोग पेट भरकर बलकारक आहार रोटी और उसके साथ थोड़ासा भात खाते हैं। बंगाली भी अगर भातकी मात्रा घटाकर रोटी आदि सामग्रीकी मात्रा बढ़ा दें, तो एक पीढ़ीमें निरोग और तीन पीढ़ियोंमें बलिष्ठ शरीरवाले हो सकते हैं।

मैं ये सब बातें रामधन पोदको समझा रहा था। रामधन पोदका सारा परिवार रोगी रहता था। रामधन पोदने हाथ जोड़कर कहा—"आपने सब ठीक कहा—मगर दूध, घी, आटा? भैया, ये सब चीजें हमको कहाँ नसीब? ऐसा जमाना लग गया है कि खाली पेटभर भातका खर्च उठाये नहीं उठता।"

मैंने सोचकर देखा, बात सच है। मैं रामधन पोदके यहाँ धान कूटनेकी जो ढेंकी थी उसके काठपर बैठा हुआ था। दहलानमें एक बड़ा कुत्ता लेटा हुआ था, इससे मैं और आगे नहीं बढ़ सका। वहींसे मैं रामधन पोदकी वंशावलीका परिचय पा रहा था। रामधनने एक एक करके दिखलाया कि उसके चार लड़के, पाँच लड़कियाँ हैं। एक लड़के और तीन लड़कियोंका ब्याह करना बाकी है। नीच जातिके यहाँ लड़का ब्याहनेमें भी खर्च होता है और लड़की ब्याहनेमें भी। लेकिन लड़की ब्याहनेमें कम खर्च होता है। उसने कहा—"एक लड़केका ब्याह करनेका तो ठिकाना है नहीं, आप दूध, घी, आटेकी बात चला रहे हैं!" मैंने अपने मनमें कहा—बेशक, मेरी यह बात असंगत ही हुई है। जान पड़ा, जैसे वह जमीनपर लेटा हुआ कुत्ता भी मुझपर खफा होकर तर्जन-गर्जन करनेका उद्योग कर रहा है। जान पड़ा, जैसे वह कह रहा है कि मुझे मुट्ठीभर जूठा भात तो मिलता ही नहीं, और तुम बूट-जूते डाँटे इस ढेंकीके ऊपर बैठे घी-आटेका जिक्र चला रहे हो! एक रोम-शून्य बिल्ली मेरी ओरसे फिरकर दुम उठाये उधरहीसे चली गई। रामधनके उस नीरस घरमें घी, दूध, मक्खनकी बात सुनकर वह निस्सन्देह मेरा उपहास करके चली गई!

मैंने रामधनसे कहा—" चार लड़के—तीन लड़कियाँ ? और उसपर दो बहुएँ ले आये हो ? " उसने हाथ जोड़कर कहा—" जी हाँ, आपके आशीर्वादसे दो बहुएँ आ गई हैं। "

मैंने कहा—उनके कोई बालबच्चा भी हुआ है ?

रामधनने कहा—जी हाँ, एकके दो लड़कियाँ हैं और एकके एक लड़का है।

मैंने कहा—शत्रुकी आँखोंमें राई-नोन, परिवार तो तुमने खूब बढ़ा रक्खा है। बहुत परिवार होनेके कारण पहले ही तुमको खाने-पीनेका कष्ट था। अब तो वह कष्ट और भी बढ़ गया होगा ?

रामधन—जी हाँ, अब खाने-पीनेका बड़ा कष्ट है।

तब मैंने रामधनसे पूछा—तो तुमने इतना परिवार क्यों बढ़ा लिया ?

रामधनने कुछ विस्मित होकर कहा—यह क्या साहब ! मैंने क्यों परिवार बढ़ाया ? विधाताने बढ़ाया।

मैंने कहा—गरीब विधाताको वृथा दोष मत दो। लड़कोंका ब्याह तुमने ही किया है। इस कारण तुमने ही दो बहुएँ बढ़ा ली हैं और लड़कोंका ब्याह करनेसे ही दो पोती और एक पोतेकी भी वृद्धि हो गई है।

रामधनने बहुत ही कातर भावसे कहा—आप इस तरह मेरे परिवारकी बढ़तीको न खूँटिए; अभी उस दिन मेरा एक महीने भरका पोता मर चुका है।

मैंने दुःख प्रकट करके पूछा—वह कैसे मरा रामधन ?

रामधन कुछ उत्तर न देता था। बहुतसे जिरहके सवाल करके मैंने यह जान लिया कि माताके दूध न होनेसे उसकी मृत्यु हो गई है। माताके पीड़ित हो जानेसे दूध न निकलता था, उधर रामधनकी गऊ भी मर चुकी थी। दूध मोल लेकर पिलानेका सामर्थ्य नहीं था। लड़का खानेको न पाकर पेटकी पीड़ा भुगतकर मर गया। अनाहारका एक फल पेटकी पीड़ा भी है, इस बातको शायद बहुत लोग न जानते होंगे।

फिर मैंने रामधनसे पूछा—अब तुम छोटे लड़केका ब्याह करोगे ?

रामधनने कहा—रुपयोंका कुछ इन्तजाम होते ही वह काम भी कर डालूँगा।

मैंने कहा—ये जो बहुएँ आगई हैं, इन्हींको पेटभर खानेको नहीं जुरता, फिर और आदमी क्यों बढ़ाते हो? ब्याह करनेसे, पहले तो बहू आवेगी, उसे खानेको देना होगा। उसके भी दो चार बच्चे होंगे—उन्हें भी खानेको चाहिए। अभी तो पूरा ही नहीं पड़ता, और उसपर तुम और एक लड़का ब्याहना चाहते हो?

रामधनने बिगड़कर कहा—लड़केका ब्याह कौन नहीं करता? जिसे खानेको जुरता है वह भी करता है और जिसे नहीं जुरता वह भी करता है।

मैंने कहा—जिसे खानेको नहीं जुरता, उसके लड़केका ब्याह करना क्या अच्छा है?

रामधनने कहा—संसार भरमें यही हो रहा है।

मैंने कहा—संसार भरमें नहीं रामधन, केवल इसी देशमें। ऐसी मूर्ख जाति और किसी देशमें नहीं है।

रामधनने कहा—जब देश भरके लोग कर रहे हैं, तब मेरे ही ऐसा करनेमें दोष क्या हुआ?

ऐसे निर्बोधको किस तरह समझाता। मैंने कहा—रामधन, देश भरके आदमी अगर गलेमें रस्सी बाँधकर जान दे दें, तो क्या तुम भी यही करोगे?

रामधनने चिल्लाना शुरू कर दिया—बोला, आप कहते क्या हैं? गलेमें फाँसी लगाना और बेटा ब्याहना क्या एक ही बात है?

मुझे भी कुछ क्रोध आ गया। मैंने कहा—एक ही बात कौन कहता है रामधन! इस तरह लड़केका ब्याह करनेकी अपेक्षा गलेमें फाँसी लगाना बहुत अच्छा है। अपने गलेमें फाँसी न लगा सको, तो लड़केके गलेमें लगा देना।

यह कहकर मैं ढेंकीपरसे उठकर चला आया। घरमें आकर गुस्सा उतरने पर मैंने सोचा कि इसमें गरीब रामधनका अपराध क्या है? बंगाल भरमें ऐसे ही रामधन भरे पड़े हैं। यह तो गरीब पोदका लड़का है—विद्या-बुद्धि नहीं रखता। किन्तु जो लोग कृतविद्य कहकर अपना परिचय देते हैं—सुशिक्षित होनेका दावा रखते हैं—वे भी रामधनसे दो हाथ बढ़े हुए

है। घरमें खानेको हो चाहे न हो, लड़केका ब्याह पहले कर देंगे। केवल कुछ दाल और मोटा भात खाकर, सात पुरखोंसे, जली लकड़ीका ऐसा आकार धारण किये हैं—ज्वर और पिलहीसे परेशान हैं—तो भी वही कुत्सित आहार खानेके लिए, अनाहारका भाग बँटानेके लिए, ज्वर और पिलही-रोगका विस्तार बढ़ानेके लिए, गाँठके रुपये खर्च करके पराई लड़की अपने घर लानी ही होगी। मनुष्यजन्ममें यही उनके लिए सुख है। जो बंगाली होकर लड़केका ब्याह न कर सका—उस बंगालीका जन्म ही वृथा है। यह विचार कर देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती कि ब्याहके बाद लड़का बेचारा अपनी स्त्रीको खिला-पिला सकेगा या नहीं। इधर स्कूल छोड़ते छोड़ते ही लड़का एक छोटीसी बच्चोंकी पल्टनका बाप बन बैठता है। उसकी रसद जुटानेमें ही बाप-दादेका नाकमें दम हो जाता है। गरीब विवाहित-युवक तब पोथी-पत्रा बाँधकर उम्मेदवारीमें लग जाता है। हाथ जोड़कर अँगरेजोंके द्वार द्वारपर हाय नौकरी, हाय नौकरी, करता फिरता है। शायद वह लड़का एक आदमी ऐसा आदमी हो सकता। शायद उस समय अपनी राह पहचानकर जीवन-क्षेत्रमें प्रवेश कर सकनेसे वह अपने जीवनको सार्थक कर सकता। किन्तु राह पहचाननेके पहले ही वह आशा जाती रही—उम्मेदवारीकी यन्त्रणा और नौकरीके निष्पेषणसे—गृहस्थी चलानेके कष्टोंसे—उसका हृदय और शरीर विकल हो गया। ब्याह हो गया है, लड़के-वाले हो गये हैं। अब मार्ग खोजनेका अवसर नहीं है—इस समय वही एक उम्मेदवारीका मार्ग खुला हुआ है और उसके द्वारा लोकोपकार होनेकी कोई संभावना नहीं है। क्योंकि अपनी स्त्री और बालबच्चोंका उपकार करनेसे ही फुरसत नहीं मिलती। वे ही रात-दिन 'दो, दो' की धुन लगाये रहते हैं। देशका हित करनेकी क्षमता नहीं रहती। स्त्री-पुत्रके हितके लिए ही सर्वस्व अर्पण कर देना पड़ता है। लिखने-पढ़ने और धर्म-चिन्ताके साथ कोई संबंध नहीं रहता। लड़केको दुलराने और खिलानेमें ही समय बीत जाता है। जो रुपया वह पेट्रियटिक एसोसियेशनको चंदेमें दे सकता, उससे उसका लड़का अपनी स्त्रीको गहने बनवा देगा। इस पर भी बंगालके रामधन अगर बचपनमें लड़केका ब्याह नहीं कर सकते, तो उससे

लड़केका भी सर्वनाश समझते हैं और अपना भी सर्वनाश समझते हैं। लड़का होनेसे उसका ब्याह करना ही होगा, हरएक मनुष्यको ब्याह करना ही चाहिए और लड़केका बचपनमें ब्याह कर देना भी प्रधान कार्य है, ऐसा भयानक भ्रम जिस देशमें सर्वव्यापी है उस देशकी भलाई कहाँसे हो सकती है? जिस देशमें मा-बाप लड़केके तैरना सीखनेके पहले ही स्त्री-रूप पत्थर उसके गलेमें बाँधकर दुस्तर संसार-सागरमें डाल देते हैं, उस देशकी उन्नति कैसे हो सकती है?



मेघ।

मैं न बरसूँगा। क्यों बरसूँ? बरसनेसे मुझे क्या सुख है? बरसनेसे तुम्हें सुख है। लेकिन तुम्हारे सुखसे मुझे क्या प्रयोजन?

देखो, मेरे क्या यन्त्रणा नहीं है? इस दारुण बिजलीकी आगको मैं सदा हृदयमें धारण करता हूँ। मेरे हृदयमें इस सुहासिनी सौदामिनीका उदय देखकर तुम प्रसन्न होते हो, तुम्हारी आँखें ठंडी होती हैं, मगर इस बिजलीके स्पर्शसे ही तुम जल जाते हो। इसी आगको मैं हृदयमें रखता हूँ। मेरे सिवा किसकी मजाल है कि इस आगको हृदयमें रक्खे?

देखो, वायु सदा मुझको अस्थिर किये रहता है। वायुको दिशा-विदिशाका ज्ञान नहीं है। वह सब ओरसे चलता है। जब मैं जलके बोझसे भारी रहता हूँ, तब वायु मुझे उड़ा नहीं सकता।

तुम डरना नहीं, मैं अभी बरसता हूँ, पृथ्वी अन्नसे हरी भरी हो उठेगी। मुझे पूजा चढ़ाना।

मेरा गरजना अत्यन्त भयानक है। तुम इससे डरना नहीं। जब मैं मन्द गम्भीर शब्दसे भर जाता हूँ, वृक्षोंके पत्तोंको हिलाकर, मोरोंको नचाकर, मृदुगंभीर गर्जना करता हूँ, तब इन्द्रके हृदयमें पड़ी हुई कल्पवृक्षके फूलोंकी माला हिल उठती है, कृष्णचन्द्रके सिरपरका मोर-मुकुट डोलने लगता है, पर्वतोंकी कन्दराओंसे प्रतिध्वनि होने लगती है। और भैया, वृत्रासुरके

वधके समय वज्रकी सहायतासे जो मैंने गर्जन किया था, तुम उस गर्जनको सुननेकी इच्छा न करना—डर मालूम होगा।

बरसूँगा क्यों नहीं ? देखो, कितनी ही जूहीकी कलियाँ मेरे जलकणोंकी आशासे ऊपर मुँह उठाये हुए हैं। उनके मुखमें स्वच्छ जल मैं न सींचूँगा तो और कौन सींचेगा ?

बरसूँगा क्यों नहीं ? देखो, नदियोंका शरीर अभी तक पुष्ट नहीं हुआ। वे मेरी दी हुई जलराशिको पाकर परिपूर्ण हृदयसे हँसतीं हँसतीं, नाचतीं नाचतीं, कलरव करती हुई अनन्त सागरकी ओर चलेंगी। यह देखकर किसे बरसनेकी साध न होगी ?

मैं नहीं बरसूँगा। देखो, यह पाजी औरत मेरे ही दिये पानीको नदीसे कलसीमें भर कर लिये जाती है और "आग लगे इस बरसनेपर; बूँदका तार नहीं टूटता!" कह कर मुझको ही गालियाँ देती चली जाती है। मैं नहीं बरसूँगा।

देखो, घरमें पानी टपकनेके कारण किसान मुझको ही गालियाँ दे रहा है। नहीं तो वह किसान ही काहेका ? मेरा जल न मिलता तो उसकी खेती न होती—मैं उसका जीवनदाता हूँ। भैया, मैं न बरसूँगा।

मुझे याद है:—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः॥

कालिदास वगैरह जहाँ मेरी स्तुति करनेवाले हैं वहाँ मैं क्यों न बरसूँगा ? मेरी भाषाको कविवर शेली समझते थे। जब मैं कहता हूँ—being fresh showers for the thirsting flowers, तब उस गंभीर वाणीके मर्मको शेली जैसा कवि हुए बिना कौन समझ सकता है ? क्यों, जानते हो ? कवि मेरे ही समान हृदयमें बिजलीकी आग धारण करता है। प्रतिभा ही उसके अनन्त हृदयाकाशकी बिजली है।

मैं अत्यन्त भयंकर हूँ। जब अन्धकारमें मैं कृष्ण-करालरूप धारण करता हूँ, तब मेरी टेढ़ी भौंहोंको कौन सह सकता है ? मेरे ही हृदयकी यह

कालाग्नि विद्युत् तब दम दम भर पर चमकने लगती है। मेरी निःश्वाससे चराचर जगत् उड़ने लगता है। मेरे शब्दसे ब्रह्माण्ड काँप उठता है।

साथ ही मैं मनोरम भी कैसा हूँ ! जब पश्चिमके आकाशमें, सन्ध्याके समय, अरुणवर्ण सूर्यकी गोदमें खेलकर मैं सुनहरी लहरोंके ऊपर लहरें फैलाता हूँ, तब कौन ऐसा है जो मेरी उस क्रीड़ा और रंगको देखकर मुग्ध न हो जाता हो? चाँदनी रातको आकाशमें मन्द पवनकी सवारीपर चढ़कर कैसी मनोहरमूर्ति धारण करके मैं विचरता हूँ। सुनो पृथ्वीपरके रहनेवालो, मैं बहुत सुन्दर हूँ, तुम मुझको सुन्दर कहना।

और एक बात है। वह कह कर मैं अब बरसने जाता हूँ। पृथ्वीतलपर एक बहुत गुणोंसे सम्पन्न कामिनी है, उसन मेरे मनको हर लिया है। वह पर्वतोंकी कन्दरामें रहती है, उसका नाम प्रतिध्वनि है। मेरी आवाज सुनते ही वह आकर मुझसे बातचीत करने लगती है। जान पड़ता है, वह मुझे प्यार करती है। मैं भी उसके आलापसे मुग्ध हो रहा हूँ। तुममेंसे कोई सम्बन्ध ठीक करके उसके साथ मेरा ब्याह करा दे सकता है?

वृष्टि।

चलो नीचे उतरें, असाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें। हम छोटी छोटी वर्षाकी बूँदें हैं। अकेले एकजनी तो जूहीकी कलीका मुँह भी नहीं धो सकती—मल्लिकाके छोटेसे हृदयको भी नहीं भर सकती। किन्तु हम हजारों, लाखों, कराड़ों हैं। चाहे तो पृथ्वीको बोर दें। छोटा या क्षुद्र कौन है?

देखो, जो अकेला है वही क्षुद्र है—वही सामान्य है। जिसमें एका नहीं है वही तुच्छ है। देखो बूँदो, कोई अकेले नीचे न उतरना—आधी ही राहमें इस प्रचण्ड सूर्यकी किरणोंसे सूख जाओगी—चलो, हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें नीचे उतरकर सूखी हुई पृथ्वीको भर दें।

पृथ्वीको डुबा देंगी। पर्वतकी चोटीपर चढ़कर उसकी छातीपर पैर रखकर पृथ्वीपर उतरना होगा—झरनेके मार्गमें मोतीका आकार धारण करके निक-लेंगी। नदियोंके शून्य हृदयको परिपूर्ण करके, उन्हें रूपका वस्त्र पहनाकर,

महा तरंगोंसे भीषण बाजा बजाकर, लहरके ऊपर लहर उठाकर हम क्रीड़ा करेंगी। आओ सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा—वायु? छिः! वायुके कंधेपर चढ़कर हम देश-देशान्तरमें घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्धमें वायु हमारा घोड़ा है—उसकी सहायता पावें, तो हम जल-थल एकाकार कर दें। हवाकी सहायता मिलनेसे हम बड़े बड़े घरोंको ढहा देनेकी शक्ति रखती हैं। वायुके कन्धेपर चढ़कर हम लोगोंके घरोंके दरवाजोंके भीतर घुसती हैं। युवतीकी बड़े यत्नसे बिछाई हुई शय्याको हम भिगो देती हैं—सोती हुई सुन्दरीके ऊपर जाकर गिर पड़ती हैं। वायु तो हमारा गुलाम है।

देखो भाई, कोई अकेले न नीचे उतरना। एका ही हमारा बल है। नहीं तो हम कुछ भी नहीं हैं। चलो—हम क्षुद्र वृष्टि-बिन्दु हैं—किन्तु पृथ्वीके प्राणोंकी रक्षा करेंगी। खेतोंमें अन्न उपजावेंगी--मनुष्योंके प्राणोंकी रक्षा होगी। नदियोंमें नावें चलेंगी, मनुष्योंका रोजगार चलेगा। तृण लता वृक्ष आदिको पुष्ट करेंगी—पशु पक्षी कीट पतंग जीवन पावेंगे। हम क्षुद्र वृष्टि--बिन्दु हैं, पर हमारे समान कौन है? हम ही संसारकी रक्षा करती हैं।

तो फिर आ नवनील मेघमाला! आ वृष्टि-बिन्दुओंकी जननी! आ माता दिङ्मण्डलव्यापिनी! सूर्यतेजसंहारिणी! आ, आकाशमण्डलको घेर ले, हम नीचे उतरें! आओ बहन सुहासिनी सौदामिनी! वृष्टि-बिन्दुकुलके मुखको उज्ज्वल करो। हम हँसती नाचती हुई पृथ्वीतलपर उतर पड़ें। तुम वृत्रासुरके मर्मस्थलको काटनेवाला वज्र हो, तुम भी गरजो। इस उत्सवमें तुम्हारे सिवा और उपयुक्त बाजा कौन है? तुम भी पृथ्वीतलपर गिरोगी? गिरो, किन्तु केवल गर्वसे उन्नत मस्तकपर ही गिरना। इस परोपकारी क्षुद्र अन्नके ऊपर मत गिरना। हम इसकी रक्षा करने जाती हैं। गिरना हो, तो इस पर्वतके शिखरपर गिरो। जलाना हो तो इन चोटीपरके पेड़ोंको जलाओ। क्षुद्रसे कुछ न बोलना। हम क्षुद्र हैं, क्षुद्रके लिए हमारे हृदयमें बड़ी व्यथा होती है।

देखो देखो, हमें देखकर पृथ्वीपरके लोगोंका आह्लाद देखो। पेड़ वगैरह सिर हिला रहे हैं—नदी हिल डुल रही है। बड़े बड़े वृक्ष सिर झुकाकर

प्रणाम कर रहे हैं। किसान खेत जोत रहा है, लड़के भीग रहे हैं। केवल बनियेकी औरत आमका रस लिए भीतर भागी जा रही है। मर हराम-जादी! दो एक अमरसके टुकड़े रक्खे न जा—हम खायेंगी। दो, इसके कपड़े भिगो दो।

हमने जलकी जातिमें जन्म पाया है, लेकिन तो भी हम रंग-रस करना जानती हैं। लोगोंके छप्पर फाड़कर घरके भीतर झाँकती हैं—स्त्री-पुरुष जिस घरमें सोये होते हैं, वहाँ छतके छेदसे भीतर जाकर उनको चौंका देती हैं। जिस राहमें बहू-बेटियाँ कलसी लेकर पानी भरने जाती हैं, उसी राहमें हम कीचड़ कर रखती हैं। चमेलीका पराग धो डालकर भौंरोंको भूखों मारती हैं। नौकर-चाकर कपड़ा धोकर फैलाते हैं तो उसे कीचड़में डालकर उनका काम बढ़ा देती हैं। हम क्या कम दिल्लगीबाज हैं? तुम सब चाहे जो कुछ कहो, हम रसिका हैं।

खैर इसे जाने दो, हमारा बल देखो। देखो, पर्वत, कन्दरा, घर-द्वार आदि सबको धोकर हम एक नई ही हरीभरी पृथ्वीकी रचना कर देंगी। देखो, शिथिल दुर्बल नदीको कूलप्लाविनी, देशको डुबानेवाली, अनन्त-तरंग-संकुला लंबे-चौड़े पाटकी जल-राक्षसी बना देंगी। किसी देशके मनुष्योंकी रक्षा करेंगी, किसी देशके मनुष्योंका (बहियाके द्वारा) संहार करेंगी—कितने ही जहाजोंको ठिकानेपर पहुँचा देंगी और कितने ही जहाजोंको डुबाकर ठिकाने लगा देंगी, पृथ्वीको जलमयी बना देंगी। फिर भी हम क्षुद्र हैं? हमारा ऐसा क्षुद्र और कौन है? हमारा ऐसा बलवान् और कौन है?

जुगनू।

यह मेरी समझमें नहीं आता कि जुगनू क्यों हमारे उपहासका पात्र है। जान पड़ता है, चन्द्र-सूर्य आदि बड़े प्रकाशोंके संसारमें रहनेके कारण ही जुगनूका इतना अपमान है। जहाँ अल्पगुणविशिष्ट व्यक्तिका उपहास करना होता है, वहीं वक्ता या लेखक जुगनूका आश्रय ग्रहण करते हैं किन्तु मुझे देख पड़ता है कि जुगनूके थोड़ा हो या बहुत, प्रकाश तो है

कहाँ, हमारे तो कुछ भी प्रकाश नहीं है । इस अन्धकारमें पृथ्वीपर जन्म लेकर हम किसके मार्गमें प्रकाश डाल सके हैं ? हमें देखकर अन्धकारमें, दुस्तर मैदानमें, दुर्दिनमें, संकटमें किसने कहा है कि आओ भाई, चलो चलो, वह देखो, प्रकाश हो रहा है—चलो, यही प्रकाश देखकर राह चलो ? अन्धकार है—इस पृथ्वीमें भाई बड़ा अन्धकार है—राह चलना कठिन है। जब चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तब राह चलता हूँ—नहीं तो चल नहीं सकता। तारागण आकाशमें उदय होकर कुछ प्रकाश अवश्य करते हैं, किन्तु दुर्दिनमें वे भी नहीं देख पड़ते। चन्द्र-सूर्य भी सुदिनके हैं, दुर्दिनमें—दुःसमयमें जब मेघकी घटा, बिजलीकी छटा, रात और घोर वर्षा होती है, तब कोई नहीं होता। मनुष्य-निर्मित वन्यकी तरह वे भी कहते हैं—*Hora non numero visi serenos*! केवल तुम जुगनू,—क्षुद्र, क्षीण प्रकाश-वाले, घृणित, सहजमें मार डालनेके योग्य, सर्वदा मेरे रक्खे हुए तुम जुगनू—उस अन्धकार दुर्दिनमें, वर्षामें देख पड़ते हो। तुम ही अन्धकारमें प्रकाश हो। मैं तुमको प्यार करता हूँ।

मैं तुमको प्यार करता हूँ। क्योंकि तुममें थोड़ा, बहुत थोड़ा, प्रकाश है। तुम भी अन्धकारमें हो, और भाई मैं भी घोर अन्धकारमें हूँ। अन्धकारमें क्या सुख नहीं है ? तुम भी अन्धकारमें बहुत घूमे हो, भला बतलाओ, अन्धकारमें सुख नहीं है ? जब आधी रातकी बदलीके अन्धकारमें जगत् ढँक जाता है, वर्षा होती है, बंद हो जाती है, और फिर होने लगती है—चन्द्रमा नहीं, तारा नहीं, आकाशकी नीलिमा नहीं, पृथ्वीपर दीपक नहीं, खिले हुए फूलोंकी शोभा तक नहीं—केवल अन्धकार ही अन्धकार होता है—केवल अन्धकार ही होता है और तुम होते हो—तब बतलाओ अन्धकारमें क्या सुख होता है ? उस समय अन्धकारपूर्ण संसार और तुम ही होते हो। जगतमें अन्धकार होता है और श्यामल स्निग्ध वृक्षोंके पत्तियोंके बीच तुम चमकते फिरते हो। बतलाओ भाई, उस अन्धकारमें सुख है या नहीं ?

मैं तो कहता हूँ कि है। नहीं तो किस साहससे तुम इस अन्धकारकी बहियामें और मैं इस सामाजिक अँधेरेमें, इस घोर दुर्दिनमें, संसारके

अपने प्रकाशसे प्रकाशित करनेकी चेष्टा करते हैं ? हैं, अन्धकारमें मग्न होनेमें सुख—आमोद है । कोई देखेगा नहीं, अन्धकारमें तुम ज्वलित होओगे, और इस अँधेरेके अन्धकारमें मैं जलूँगा; अनेक ज्वालाओंसे जलूँगा । जीवनका तात्पर्य समझनेमें अत्यन्त कठिन, अत्यन्त गूढ़ और अत्यन्त भयंकर है । सोचो तो, क्षुद्र होकर तुम क्यों प्रज्वलित होते हो, और क्षुद्र होकर मैं ही क्यों जलता हूँ ? तुम क्या इस बातको सोचते हो ? तुम अगर नहीं सोचते तो तुम सुखी हो । मैं तो सोचता हूँ, मैं असुखी हूँ । तुम कीट हो, और मैं भी कीट—अत्यन्त क्षुद्र कीट—हूँ । तुम सुखी हो, मैं किस पापसे असुखी हूँ ? तुम क्या सोचते हो कि तुम जगतके प्रकाशक सूर्य क्यों नहीं हुए ? आकाश और समुद्रकी शोभा चन्द्रमा क्यों नहीं हुए ? क्यों न वही हुए ? तुम क्या कभी सोचते हो कि ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, छायापथ आदि कुछ न होकर तुम जुगनू ही क्यों हुए ? जिस ईश्वरने इन सब चीजोंकी सृष्टि की है, उसीने तुम्हारी भी सृष्टि की है । जिसने इन सबको प्रकाश दिया है उसीने तुमको भी प्रकाश दिया है । उसने एकको बड़ा और दूसरेको छोटा क्यों बनाया ? अन्धकारमें इतना घूमकर सोचनेसे तुमने कुछ जाना है ?

तुम सोचो या न सोचो, मैं सोचता हूँ । मैंने सोचकर निश्चय किया है कि विधाताने तुमको और मुझको केवल अँधेरी रातके लिए ही भेजा है। तुम्हारा और सूर्यका प्रकाश एक ही है—दोनों ही जगदीश्वरके दिये हुए हैं; तथापि तुम केवल वर्षाकी रातके लिए हो और मैं भी केवल इस वर्षाकी रातके लिए हूँ । आओ रोवें ।

आओ रोवें । वर्षाके साथ तुम्हारा और मेरा नित्य सम्बन्ध क्यों है ? प्रकाशपूर्ण नक्षत्रोंकी आभासे उज्ज्वल वसन्तऋतुके आकाशमें तुम्हारे और मेरे लिए स्थान क्यों नहीं है ? वसन्त चन्द्रमाके लिए है, सुखीके लिए है, निश्चिन्तके लिए है, और वर्षा तुम्हारे लिए है, दुखीके लिए है, मेरे लिए है । इसी लिए मैंने रोनेकी इच्छा प्रकट की थी—किन्तु न रोऊँगा। जिसने तुम्हारे और मेरे लिए इस संसारको अन्धकारमय बनाया है, रोकर उसको दोष न दूँगा । यदि उसकी यही इच्छा है कि अन्धकारके साथ तुम्हारा मेरा नित्य सम्बन्ध रहे, तो आओ अन्धकारको ही प्यार करें।

आओ नवीन नील मेघमाला देखकर इस अनन्त असंख्य विश्व-ब्रह्माण्डकी कराल छायाका अनुभव करें—मेघगर्जनको सुनकर सर्वध्वंसकारी कालके अविश्रान्त गर्जनका स्मरण करें। बिजलीकी चमकको कालका कुटिल कटाक्ष समझें। समझें कि यह संसार बिल्कुल ही क्षणस्थायी है, तुम भी क्षणस्थायी हो और मैं भी क्षणस्थायी हूँ। रोनेकी कोई बात नहीं है, वर्षाके लिए ही हम और तुम भेजे गये थे। आओ चुपचाप जलते जलते—अनेक ज्वालाओंमें जलते जलते—सब सहें।

नहीं तो, आओ, मरें। तुम दीपकके प्रकाशकी प्रदक्षिणा करते हुए जल मरो, और मैं आशारूप उज्ज्वल महादीपकके चारों ओर चक्कर लगा लगाकर जल मरूँ। दीपकके प्रकाशमें तुम्हारे लिए क्या मोहिनी है सो तो मैं नहीं जानता, किन्तु आशाके प्रकाशमें मेरे लिए जो मोहिनी है उसे मैं जानता हूँ। इस प्रकाशमें न जाने कितनी बार मैं फाँदा, कितनी बार जला, किन्तु मरा नहीं। यह मोहिनी क्या है सो मैं जानता हूँ। बड़ी साध थी कि ज्योतिको प्राप्त होकर इस संसारमें प्रकाश फैलावेंगे; किन्तु हाय! हम जुगनू हैं। हमारे इस प्रकाशसे कुछ भी प्रकाशित न होगा। जाने दो, कुछ काम नहीं है। तुम इस बकुल-कुञ्ज-किशलयके अन्धकारमें अपना क्षुद्र प्रकाश बुझा दो, और मैं भी जलमें या स्थलमें, रोगमें या दुःखमें, इस क्षुद्र प्राण-दीपकको बुझा दूँ।

—मनुष्य-खद्योत।



पुष्प-नाटक।

जूही—आओ आओ प्राणनाथ, आओ, मेरे हृदयके भीतर आओ, मेरा हृदय भर जाय। कबसे तुम्हारी आशामें मुँह उठाये बैठी हूँ—यह क्या तुम नहीं जानते? मैं जब कलिका—बालिका—थी, तब यह बड़ा भारी अग्निचक्र—यह त्रिभुवनको सुखानेवाला महापाप—पूर्वके आकाशमें आया था। उस समय इसकी ऐसी जगतको जलानेवाली विकराल मूर्ति भी न थी। उस समय इसके तेजमें इतनी ज्वाला भी न थी। हाय! उस सम-

यको कितनी देर हुई ! उस समय देखो, यह महापाप क्रमशः आकाशमें चढ़कर, ब्रह्माण्डको तापसे जलाकर, क्रमशः पश्चिम दिशामें नीचे गिरता हुआ शायद अनन्तमें डूब जानेवाला है । जाने दो ! दूर हो—हाँ, तुम इतनी देरतक कहाँ थ प्राणनाथ ? तुम्हें पाकर शरीर शीतल हुआ, हृदय भर गया—छिः मिट्टीमें न गिरना । मेरे हृदयमें तुम हो, इससे यह जली हवा मुझे नहीं जलाती, बल्कि तुम्हारी शोभा बढ़ा रही है । इस धूपके प्रकाशसे तुम रत्नके समान सुन्दर चमकीले जान पडते हो । तुम्हारे रूपसे मैं भी रूपवती हो रही हूँ । ठहरो ठहरो हृदयको शीतल करनेवाले ! मेरे हृदयमें ठहरो, मिट्टीमें न गिरना ।

बेला—(विष्णुकान्तासे, आड़में) देखो, बहन विष्णुकान्ता—लड़कीके ढँग देखो !

विष्णुकान्ता—किस लड़कीके ?

बेला—इसी जूहीके । अभीतक मुँह बंद किये, गर्दन झुकाये, दुकानकी लैयाकी तरह पड़ी हुई थी—उसके बाद आकाशसे वर्षाका एक बिन्दु—नवाबजादेकी तरह हवाके घोड़ेपर चढ़ा हुआ आकाशसे ऊपर आकर टपक पड़ा । वैसे ही लड़की खुलकर खिलकर फूल उठी । अभी कमसिन है न ! बच्चोंका ढँग ही जुदा होता है ।

विष्णुकान्ता—आः, छि छि ।

जूही—सो इतनी देर कहाँ थे प्राणनाथ ! तुम्हें नहीं मालूम कि मैं तुम्हारे विना जीवन-धारण नहीं कर सकती ।

बिंदु—दुःखित न होना प्राणप्यारी ! बहुत समयसे आनेका विचार कर रहा था, किन्तु नहीं आ सका । तुमको नहीं मालूम, आकाशसे पृथ्वीपर आनेमें अनेक विघ्न हैं । अकेले आया नहीं जाता, दलबल लेकर आना पड़ता है । सबका मिजाज और मर्जी सब समय एकसी नहीं रहती । कोई आपके रूपको पसन्द करता है—अपनेको बड़ा आदमी समझकर आकाशके ऊँचे स्थानमें अदृश्य होकर रहना पसंद करता है । कोई कहता है, जरा ठंडक होने दो, वायुकी निचली तह बहुत गर्म है । अभी

जानेसे सूख जानेका डर है। पृथ्वीपर उतरनेको अधःपतन समझकर कुछ साथी अधःपतनके लिए तैयार नहीं होते। कोई कहता है, मिट्टीमें गिरनेकी कोई जरूरत नहीं है, आकाशमें कलमुँहा मेघ बनकर सदा रहें वह भी अच्छा। कोई कहता है, मिट्टीपर गिरनेकी जरूरत नहीं है, फिर उन्हीं पुराने नदी नालोंके भीतर होकर खारी समुद्रमें गिरना होगा। उसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि आओ, इस उज्ज्वल धूपमें खेलें। सब मिलकर इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न करें, पृथ्वी और आकाशके लोग उसे देखकर मोहित हो जायँगे। खैर किसी तरह अगर सब आकाशमें एकत्र हो जाते हैं, तो भी सबकी राय नहीं मिलती। कोई कहता है, अभी रहने दो–अभी आओ, कालिमामयी काली कराल मेघमाला बनकर बिजलीकी माला गलेमें धारणकर यहाँ बैठे बैठे हम बहार देखेंगे। कोई कहता है—इतनी जल्दी क्यों है? हम जलवंशमें उत्पन्न हैं, भूलोकका उद्धार करने जायँगे—क्या इसी तरह चुपचाप चलेंगे? आओ, जरा गरज तो लें। कोई गरजता है, कोई बिजलीकी क्रीड़ा देखता है। बिजली बड़े रंग दिखलाती है—कभी इस मेघकी गोदमें, कभी उस मेघकी गोदमें, कभी आकाशके छोरपर, कभी आकाशके बीचमें, कभी धीरे धीरे दमकती है और कभी जोरजोरसे चमकती है।

जूही—अगर बिजलीपर इतने लट्टू हो रहे थे तो फिर क्यों आये? वह बड़ी है और हम क्षुद्र हैं।

बिन्दु—अरे! छि! छि! नाराज क्यों होती हो? मैं क्या उस ढँगका आदमी हूँ? देखो छोटे छोटे छोकरे हलके होनेके कारण कोई नहीं आये। हम भारी आदमी नहीं रह सके–उतर आये। खासकर इसलिए कि बहुत दिनोंसे तुम लोगोंको देखा सुना नहीं था।

कमलिनी—(तालाबके भीतरसे) वाह! बड़ा भारी है! आ न। तुझ ऐसे हजारोंको एक पत्तेपर बिठा रख सकती हूँ।

बिन्दु—असल बात भूल गई? तालाबको भरता कौन है? हे पंकजिनी, वृष्टि न होती तो जगतमें पंक (कीचड़) भी न होती, जल भी न होता। तुम भी इस तरह हँस हँसकर अपनी बहार न दिखा सकतीं। हे जलजिनी, तुम हमारे घरकी लड़की हो, इसीसे हम तुमको हृदयपर रखकर पालते

हैं। नहीं तो तुम्हारा यह रूप भी न रहता, यह महक भी न रहती और यह गर्व भी न रहता। पापिन, तू अपने बापके घरानेके बैरी उसी अग्नि-पिण्ड (सूर्य) की अनुरागिणी है ?

जूही—छि ! प्राणनाथ ! उस औरतके मुँह लगना तुम्हें नहीं सोहता। वह तो सबेरेसे मुँह खोले उसी अग्निमय नायकके मुँहकी ओर ताका करती है। जिधर वह जाता है उधर ही इसका मुँह रहता है। न जाने कितने भौंरे और ममाखियाँ आती जाती हैं, तब भी इसे संकोच नहीं होता। ऐसी बेहया, पानीमें बहनेवाली, भौंरोंसे मेल रखनेवाली, कँटीली औरतसे बात करना ही ठीक नहीं।

विष्णुकान्ता—क्यों बहन जूही, भौंरों और ममाखियोंका आना-जाना घर घर नहीं है ?

जूही—अपने घरकी बात कहो दीदी, मैं तो अभी खिली हूँ। अभीतक मैं भौंरों और ममाखियोंका उपद्रव जानती ही नहीं।

बिन्दु—तुम्हीं क्यों ऐसे लोगोंसे बातचीत करती हो ? जो खुद कलं-किनी (काली) है, वह तुम्हारी ऐसी अमल-धवल शोभा और ऐसी वा-सको कैसे देख सकती है ?

कमलिनी—भलारे पानीके किनके ! भला ! खूब लेक्चर दे रहा है। वह देखे वायु आ रहा है !

जूही—सर्वनाश ! क्या कहा, वायु आ रहा है ?

बिन्दु—हाँ, अब मैं नहीं ठहर सकता।

जूही—ठहरो न !

बिन्दु—ठहर न सकूँगा। वायु मुझे गिरा देगा—मैं उससे पेश नहीं पा सकता।

जूही—जरा और ठहरो न।

[वायुका प्रवेश।]

वायु—(बिन्दुसे) उतर।

बिन्दु—क्यों महाशय ?

वायु—मैं इस अमल मृदुल सुशीतल सुवासित खिली हुई कलीसे क्रीड़ा करूँगा। तू अधःपतित, नीचगामी, नीचवंश है। तू इस सुखके आसनपर बैठा रहेगा ? उतर।

बिन्दु—मैं आकाशसे आया हूँ।

वायु—अबे तू पार्थिवयोनि है। तुझे नीचगामी नाले आदिमें रहना चाहिए। तू इस आसनपर कहाँ ? उतर।

जूही—ठहरो न।

बिन्दु—वह ठहरने ही नहीं देता।

जूही—ठहरो न, ठहरो न, ठहरो न।

वायु—(जूहीसे) तू इतनी गर्दन क्यों हिला रही है ?

जूही—तुम हटो।

वायु—मैं तुमको गले लगाऊँगा सुन्दरी !

(जूहीकी हट हट कर भागनेकी चेष्टा।)

बिन्दु—इस गड़बड़में अब मैं नहीं रह सकता।

जूही—अच्छा तो फिर मेरे पास जो कुछ है, वह तुमको अर्पण करती हूँ। धो ले जाओ।

बिन्दु—क्या है।

जूही—थोड़ासा मधु सञ्चित है और थोड़ासा परिमल है।

वायु—परिमल मैं लूँगा, उसी लोभसे आया हूँ। दे—

(वायु पुष्पपर बलप्रयोग करता है।)

जूही—(बिन्दुसे) तुम जाओ; देखते नहीं हो, यह डकैत है !

बिन्दु—तुमको छोड़कर किस तरह जाऊँ ? किन्तु ठहर कर यह दृश्य देख भी नहीं सकता। जाता हूँ।

(वृष्टिबिन्दुका पृथ्वीपर पतन।)

बेला और विष्णुकान्ता—(बिन्दुसे) अब कहो भैया स्वर्गवासी ! आकाशसे उतर कर आये थे न ? अब मिट्टीमें गिरो, मोहरीमें बहो—

जूही—(वायुसे) छोड़ो ! छोड़ो !

वायु—क्यों छोड़ूँ ? दे, परिमल दे।

जूही—हाय, कहाँ गये तुम अमल, स्वच्छ, सुन्दर सूर्यकी प्रतिभासे भासित, रसमय जलकण ! इस हृदयको स्नेहसे भरकर फिर क्यों शून्य कर दिया जलकण ? एकबार रूप दिखाकर, स्निग्ध करके, कहाँ लीन हो गये प्राणनाथ ? हाय, मैं तुम्हारे संग क्यों नहीं गई—तुम्हारे साथ क्यों नहीं मर गई ? क्यों अनाथ, अ-स्निग्ध पुष्प-देह लेकर इस शून्य प्रदेशमें बनी रही !

वायु—ले रोना रहने दे—परिमल दे—

जूही—छोड़ो, नहीं तो जहाँ मेरा प्यारा गया है वहीं मैं भी जाऊँगी ।

वायु—जा, जायगी, परिमल दे । हूँ हुम !

जूही—मैं मरूँगी मरती हूँ ।—अच्छा जाती हूँ ।

वायु—हुँ हुम !

(जूहीके फूलका पृथ्वीपर गिरना ।)

वायु—हुँः ! हाय ! हाय !

[यवनिका पतन ।]

Epilogue.

१ श्रोता—नाटककार महाशय, यह क्या खाक-पत्थर हुआ ?

२ श्रोता—ठीक तो है, एक जूहीका फूल नायिका और एक बूँद जल नायक ! बड़ा भारी Drama ड्रामा है !

३ श्रोता—हो सकता है कि इसमें कोई moral मॉरल हो । नीतिकी कोई बात जान पड़ती है ।

४ श्रोता—नहीं जी, यह एक तरहकी Tragedy ट्रेजिडी है ।

५ श्रोता— Tragedy ट्रेजिडी है या एक Farce फार्स है ?

६ श्रोता—Farce फार्स है या किसीको लक्ष्य करके उपहास किया गया है ?

७ श्रोता—यह नहीं है । इसका अर्थ गूढ़ है । मुझे यह परमार्थ-विषयक काव्य जान पड़ता है । 'वासना' या 'तृष्णा' इसका नाम रक्खा जा सकता था । जान पड़ता है, ग्रन्थकार उतना खुलना नहीं चाहते ।

८ श्रोता—यह एक रूपक है। मैं इसका अर्थ करूँगा।

९ श्रोता—अच्छा ग्रन्थकार ही न कहें, यह क्या है ?

ग्रन्थकार—यह तुम्हारे अनुमानोंमेंसे कुछ नहीं हैं। मैं इसका अँगरेजीमें टाइटिल Title दूँगा—

"A true and faithful account of a lamentable Tragedy which occurred in a flower-pot on the evening of the 19th July, 1885 Sunday, and of which the writer was an eye-witness."

सांख्यदर्शन ×।

प्रस्तावना।

भारतके जितने प्राचीन दर्शन शास्त्र हैं, उनमें सांख्य दर्शन प्रधान है। यह दर्शन बहुत प्राचीन और बहुत महत्त्वका है। प्राचीन शैलीके विद्वानोंमें यद्यपि इसकी विशेष चर्चा नहीं है; परन्तु आधुनिक विद्वान् इसे बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। वे कहते हैं कि जो हिन्दुओंके पुरावृत्त या इतिहासका अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें सांख्य दर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिए—इसके विना उसका सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। क्यों कि हिन्दू समाजकी पूर्वकालीन गति सांख्यप्रदर्शित मार्गपर बहुत दूर तक होती रही है। वर्तमान हिन्दू समाजके चरित्रका अध्ययन करनेके लिए भी सांख्य दर्शनका अध्ययन आवश्यक है। सांख्यमें इस चरित्रके मूलका बहुत कुछ पता मिलता है।

संसार दुःखमय है और केवल दुःख निवारण करना ही पुरुषार्थ है, यह बात जिस तरह हिन्दुओंकी हड्डी हड्डीमें घुसी हुई है, उस तरह शायद पृथिवीकी और किसी भी जातिमें इसने स्थान नहीं पाया है। इसका बीज

× निबन्धावलीके इस संस्करणमें यह लेख पहले दो संस्करणोंकी अपेक्षा अधिक है। इसका लगभग अर्धांश जैनहितैषी (भाग १० अंक ९–१० सन् १९१४) में प्रकाशित किया जा चुका था, शेष इस समय अनुवाद करके सम्पूर्ण किया गया।

—प्रकाशक।

सांख्य दर्शनमें है। शायद इसी कारण भारतमें वैराग्यकी जितनी प्रबलता है, उतनी और किसी भी देशमें नहीं है। वर्तमान हिन्दू-चरित्र इसी वैराग्य-प्रबलताका फल है। विदेशी लोग जिस कार्यपरतन्त्रताका अभाव हम लोगोंका प्रधान लक्षण निर्देश करते हैं, वह इस वैराग्यका एक साधारण परिणाम है और जो अदृष्टवादिता हम लोगोंका दूसरा प्रधान लक्षण है, वह सांख्यजात वैराग्यका केवल दूसरा रूप है।

बौद्धधर्म लगभग एक हजार वर्ष तक भारतका प्रधान धर्म रहा है। भारतके इतिहासमें जो समय सर्वापेक्षा विचित्र और सौष्ठवलक्षणयुक्त समझा जाता है, बौद्धधर्म उसी समय इस भारत भूमिका प्रधान धर्म था। भारतसे दूरीकृत होकर वह सिंहल, नेपाल, तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, श्याम आदि देशोंमें अब भी व्याप्त है। बौद्धधर्मका आदि यही सांख्य दर्शन है। इस धर्ममें वेदोंकी अवज्ञा, निर्वाण और निरीश्वरता ये तीन बातें नूतन हैं और ये तीन ही इस धर्मका कलेवर है। लेखकका 'कलकत्ता रिव्यू' (संख्या १०६) में जो 'बौद्धधर्म और सांख्यदर्शन' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ है, उसमें सिद्ध किया गया है कि इन तीनों बातोंका मूल सांख्यदर्शन है। निर्वाण सांख्यकी मुक्तिका परिणाम मात्र है और यद्यपि प्रकटरूपमें सांख्यदर्शनने वेदकी अवज्ञा कहीं भी नहीं की है, बल्कि उसमें वैदिकताका आडम्बर ही अधिक है; परन्तु वास्तवमें सांख्यप्रवचनकारने वेदकी दुहाई देते हुए ही वेदका मूलोच्छेद किया है।

कहा जाता है कि पृथिवीमें जितनी संख्या बौद्धोंकी है, उतनी अन्य किसी भी धर्मके अनुयायियोंकी नहीं है—ईसाई तक उनके बाद हैं। अतएव यदि कोई पूछे कि पृथिवीपर अवतीर्ण हुए मनुष्योंमेंसे किसने सबसे अधिक लोगोंके जीवनपर प्रभुत्व किया है, तो हम पहले शाक्यसिंहका और उसके बाद ईसाका नाम लेंगे। परन्तु शाक्य सिंह (बुद्धदेव) के साथ साथ हमें कपिलका भी नाम लेना चाहिए।

यह बात खूब स्पष्टताके साथ कही जा सकती है कि पृथिवीपर अबतक जितने दर्शनशास्त्र अवतीर्ण हुए हैं, उनमें सांख्यके समान बहुफलोत्पादक कोई भी नहीं हुआ।

इस बातका पता लगाना बहुत कठिन है कि सांख्यकी प्रथमोत्पत्ति कब हुई थी। संभवतः यह बौद्धधर्मके पहले प्रचारित हुआ था। किंवदन्ती है कि कपिलमुनि उसके प्रणेता हैं और इस किंवदन्तीपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। किन्तु वे कौन थे और कब उनने जन्म ग्रहण किया था, यह जाननेका कोई उपाय नहीं है। केवल यही कहा जा सकता है कि उनके समान बुद्धिशाली व्यक्ति पृथिवीपर बहुत थोड़े ही हुए हैं। पाठक स्मरण रक्खें कि हम 'निरीश्वर सांख्य'को ही सांख्य कहते हैं। पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्रको 'सेश्वर सांख्य' कहा जाता है, जिसका इस निबन्धसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

यद्यपि सांख्यदर्शन बहुत प्राचीन है; परन्तु इस समय विशेष प्राचीन सांख्य-ग्रन्थोंका अभाव है। 'सांख्य-प्रवचन' को बहुत लोग कापिल सूत्र कहते हैं; परन्तु वह कपिलप्रणीत कभी नहीं हो सकता। वह बौद्ध, न्याय, मीमांसा आदि दर्शनोंके प्रचारके बाद प्रणीत हुआ है और उसमें इस बातके प्रमाण मौजूद हैं। उसमें इन सब दर्शनोंका खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त जो सांख्यकारिका, तत्त्वसमास, भोजवार्तिक, सांख्यसार, सांख्य-प्रदीप, सांख्यतत्त्व-प्रदीप आदि ग्रन्थ और इन सबके टीकाग्रन्थ मिलते हैं, वे सब अपेक्षाकृत नवीन हैं। कपिल अर्थात् सांख्यदर्शनके प्रथम अध्यापकका जो मत है, वही हमारे लिए आदरणीय और समालोच्य है। आगे कपिल-सूत्रोंके आधारसे हम सांख्यदर्शनकी मोटी मोटी बातें बहुत संक्षेपमें समझानेका यत्न करेंगे—

कुछ विज्ञ लोग कहते हैं कि यह संसार सुखमय है। हम लोग सुखभोगके लिए ही इस पृथिवीपर प्रेरित हुए हैं। जो कुछ दिखलाई देता है वह सब जीवोंके सुखके लिए सृष्ट हुआ है। जीवोंके सुखविधानके लिए ही सृष्टिकर्त्ताने जीवसृष्टि की है। देखते नहीं हो, सृष्ट जीवोंके मंगलके लिए सृष्टिमें कितना चातुर्य्य प्रयुक्त हुआ है?

कुछ लोग इसके विपरीत कहते हैं कि संसारमें सुख कहीं नहीं दिखाई देता—दुःखोंकी ही प्रधानता है। यह तो हम नहीं जानते कि सृष्टिकर्त्ताने किस अभिप्रायसे जीवसृष्टि की है—मनुष्यबुद्धि इसे सोच भी नहीं सकती

है, परन्तु हमें संसारमें सुखकी अपेक्षा असुख या दुःख ही अधिक दिखलाई देता है। तुम कहोगे कि ईश्वरने जो सब नियम बना दिये हैं, उनके अनुसार चलनेसे कोई दुख नहीं होता, नियमोंके बार बार लंघनसे ही इतने दुःख दिखलाई देते हैं। मैं कहता हूँ कि जब ईश्वरने ऐसे सब नियम बनाये हैं कि वे बहुत ही सहजमें लंघन किये जा सकते हैं और जब उनके लंघनकी प्रवृत्ति भी उसने अतिशय बलवती बना दी है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका अभिप्राय नियमोंका लंघन करना नहीं किन्तु उनकी रक्षा करना है? जब शराब पीना मनुष्यके लिए अतिशय दुःखदायक है, तब शराब पीनेकी प्रवृत्ति मनुष्यके हृदयमें रोपी ही क्यों गई? और शराब पीना इतना सुसाध्य और शीघ्रसुखकर क्यों हुआ? कितने ही नियम इतने सहजमें लंघन किये जा सकते हैं कि उनके लंघन करनेके समय कुछ भी नहीं जाना जाता। डाक्टर आंगस स्मिथकी परीक्षासे प्रमाणित हो गया है कि कभी कभी बहुत ही अनिष्ट करनेवाली कार्बोनिक एसिडसे मिली हुई वायु भी श्वासमें ले लेनेसे कष्ट नहीं होता है। चेचक आदि बीमारियोंके विष-बीज, हमें मालूम ही नहीं होता कि कब हमारे शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं। अनेक नियम ऐसे भी हैं कि उनका उल्लंघन करनेसे हम सदा ही कष्ट पाते हैं, किन्तु वे नियम क्या हैं, यह जाननेकी हम लोगोंमें शक्ति नहीं। हैजा (विशूचिका) की बीमारी क्यों होती है, यह हम अब तक नहीं जान पाये, पर इससे प्रतिवर्ष लाखों आदमी मर जाते हैं। यदि ईश्वरने नियमोंके लंघन करनेकी शक्ति देकर नियमोंको जानने नहीं दिया, तो इसमें उसकी जीवोंके प्रति मङ्गलकामना कहाँ प्रकट होती है? किसी पण्डित पिताके मूर्ख पुत्र उत्पन्न हो गया है और इससे वह रात दिन दुखी रहता है; मान लो कि उसकी उस मूर्खताका जन्म शिक्षाके अभावसे नहीं हुआ है, वह स्थूल बुद्धि (मोटी अक्ल) लेकर ही जन्मा है। तब किस नियमके लंघन करनेसे पुत्रका मस्तिष्क अपूर्ण रह जाता है, यह बात क्या कभी मनुष्यबुद्धिके लिए सुगम हो जायगी ? मान लो कि भविष्यतमें हो जायगी; परन्तु जब तक उस नियमका आविष्कार न होगा, तब तक तो मनुष्य जाति दुख पाती रहेगी? और तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यह दुख पाना सृष्टिकर्त्ताको अच्छा नहीं लगता है ?

और, यह भी तो नहीं है कि हम सब नियमोंकी रक्षा कर सकने पर भी दुख न पाएँगे। ऐसा भी तो देखा जाता है कि एक मनुष्य नियमोंका लंघन करता है और दूसरा दुख भोगता है। मेरा प्यारा भाई अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिए युद्धक्षेत्रमें जाकर मर जाता है और मैं यहाँ उसका वियोगकष्ट भोगता हूँ। हमारे जन्मके पचास वर्ष पहले जो बुरा कानून या राजशासन निर्मित हो चुका है, उसका फल हमें भोगना पड़ रहा है। पितामहको कोई बीमारी थी, इसलिए पौत्र किसी नियमका लंघन न करके भी उस बीमारीसे ग्रसित हो जाता है।

और अनेक विषय ऐसे गुरुतर हैं कि उनमें स्वाभाविक नियमानुवर्त्ती होनेसे भी दुःख होता है। माल्थस साहबने जनसंख्यावृद्धिके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त* प्रकट किया है, वह इस बातका प्रमाण है। उसके अनुसार इस समयके प्रायः सभी विचारक विद्वान् स्वीकार करते हैं कि यद्यपि मनुष्य साधरणतः नैसर्गिक नियमानुसार ही अपने अपने स्वभावका परितोष किया करते हैं, परन्तु इससे जो प्रजावृद्धि होती है, उससे बहुत ही अनिष्ट होता है।

अतएव यह कहनेके लिए यथेष्ट कारण हैं कि संसार केवल दुःखमय है। सांख्यकार भी यही कहते हैं और यही बात सांख्यदर्शन और बौद्धधर्मकी जड़ है।

किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पृथिवीपर कुछ सुख भी है। सांख्यकार कहते हैं कि सुख अल्प है। कदाचित् ही कोई सुखी देखा जाता है, (अध्याय ६, सूत्र ७) और सुख दुःखके साथ इस प्रकार मिला रहता है कि विवेचक जन उसे दुःखकी गिनतीमें ही गिन लेते हैं। (अ० ६, सू० ८) दुःखसे तादृश सुखाकांक्षा नहीं उत्पन्न होती (सू० ६), अतएव दुःखकी ही प्रधानता है।

अतएव मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य दुःखमोचन है। इसी लिए सांख्य-प्रवचनका प्रथम सूत्र है—"अथ त्रिविधः आत्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।"

---

* हमारे यहाँसे प्रकाशित 'देशदर्शन' नामक ग्रन्थमें माल्थसके सिद्धान्तको खूब विस्तारके साथ समझाया गया है। मूल्य २), राजसंस्करणका ३) रु०।

यह पुरुषार्थ किस प्रकार सिद्ध होता है, इसकी पर्यालोचना करना ही सांख्यदर्शनका उद्देश्य है। ज्यों ही किसीपर कोई दुःख पड़ता है, त्यों ही वह उसके दूर करनेका उपाय करता है। भूखसे कष्ट हो रहा है, आहार कर लो। पुत्रशोक हो रहा है, उसे भुलाकर दूसरी ओर चित्तको लगा दो। परन्तु सांख्यकार कहते हैं कि इन सब उपायोंसे दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि इनके साथ उन्हीं सब दुःखोंकी अनुवृत्ति है—वे दुःख फिर भी होंगे। तुमने भोजन कर लिया, उससे तुम्हारी आजकी भूख मिट गई; परन्तु कल फिर भूख लगेगी। दूसरी ओर चित्त लगाकर तुमने अबकी बार पुत्रशोकको भुला दिया; परन्तु संभव है कि आगे दूसरे पुत्रके लिए भी तुम्हें उसी प्रकारका शोक करना पड़े और इस प्रकारके उपाय सर्वत्र संभव भी नहीं हैं।

गरज यह कि इन सर्व दुःखोंके निवारणका उपाय नहीं है। आधुनिक विज्ञानी कोम्टके शिष्य पूछेंगे, तो फिर दुःखनिवारणका और क्या उपाय है? हम जानते हैं कि जल सींचनेसे अग्निका निर्वाण हो जाता है; किन्तु यदि तुम यह कहकर जलको अग्निनाशक न मानो कि शीतल ईंधन फिर भी जल सकता है, तो फिर बात ही समाप्त हो गई। ऐसी दशामें देहध्वंसके सिवाय जीवोंके दुःखोंकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

सांख्यकार यह भी नहीं मानते। वे जन्मान्तर मानते हैं और यह सोच कर कि लोकान्तरमें बार बार जन्म होता है और यह समझ कर कि जरामरणादिज दुःख समान हैं, उसे भी (देहध्वंसको) दुःखनिवारणका उपाय नहीं मानते। (अ० ३, सू० ५२–५३) विश्वकारणमें विलीन हो जाने पर भी उस अवस्थाको दुःखनिवृत्ति नहीं कहते, क्यों कि जो जलमें डूब गया है उसका फिर उत्थान होता है। (सू० ५४)

तो फिर दुःखनिवारण किसे कहते हैं? अपवर्ग ही दुःखकी निवृत्ति है। अपवर्ग क्या है, यह आगे बतलाया जायगा।

विवेक।

मैं दुःख भोगता हूँ; परन्तु यह 'मैं' कौन है? बाह्य प्रकृतिको छोड़कर और कुछ भी इन्द्रियगोचर नहीं है। तुम कहते हो, मैं बड़ा दुःख पा रहा हूँ, मैं

बहुत सुखी हूँ । परन्तु तुम्हारी इस मनुष्य-देहके अतिरिक्त ऐसी कोई चीज नहीं दिखलाई देती है, जिसे, 'तुम' कहा जाय। तुम्हारी देह और तुम्हारी दैहिक प्रक्रिया, केवल यही मेरे ज्ञानगोचर है, तब क्या इस सुखदुःखभोगको तुम्हारी देहका ही समझना चाहिए?

तुम्हारी मृत्यु हो गई। तुम्हारी यह देह पड़ी रहेगी; किन्तु उस समय उसके सुख या दुःखभोगके कोई लक्षण न दिखलाई देंगे । और मान लो कि किसीने तुम्हारा अपमान किया है। उससे तुम्हारी देहमें तो कोई विकार नहीं हुआ; फिर भी तुम दुःखी हो। तब तुम्हारी देह भी दुःखभोग नहीं करती। जो दुःख भोग करता है, वह स्वतंत्र है और वही 'तुम' हो। तुम्हारी देह 'तुम' नहीं हो।

इसी तरह सब जीवोंके सम्बन्धमें समझना चाहिए। अतएव देखा जाता है कि इस जगतका कुछ अंश अनुमेय मात्र है, इन्द्रियगोचर नहीं है और सुखदुःखादिका भोगनेवाला है। जो सुखदुःखादि भोगता है, वही आत्मा है। सांख्यदर्शनमें उसका नाम है पुरुष। और इस पुरुषको छोड़कर जगतमें और जो कुछ है, वह प्रकृति है।

आधुनिक मनोविज्ञानके पण्डित कहते हैं कि हमारे सुख-दुःख केवल मानसिक विकार हैं और सारे मानसिक विकार केवल मस्तिष्ककी क्रिया हैं। तुमने मेरे शरीरमें काँटा चुभा दिया। जहाँ काँटा चुभा, वहाँके स्नायु विचलित हुए और वह विचलन मस्तिष्कपर्यन्त पहुँचा। उससे मस्तिष्कमें जो विकृति हुई, वही वेदना है। सांख्यमतावलम्बी कह सकते हैं कि हम उसे वेदना मानते हैं; परन्तु जो उस वेदनाको भोगता है, वह आत्मा है । इस समय एक और दलके मनोविज्ञानी भी प्रायः इसी प्रकार कहते हैं। वे कहते हैं कि मस्तिष्कका विकार सुख दुःख है, परन्तु मस्तिष्क आत्मा नहीं है । वह तो आत्माकी एक इन्द्रिय है । इस देशके दार्शनिक जिसे अन्तरिन्द्रिय कहते हैं, वे लोग मस्तिष्कको वही कहते हैं।

पुरुष शरीरादिसे व्यतिरिक्त है; परन्तु दुःख शरीरादि है। ऐसा कोई दुःख नहीं, जो शरीरादिमें दुःखका कारण न हो। हम जिसे मानसिक दुःख कहते हैं,

उसका मूल बाह्य पदार्थ ही है। हमारे वाक्यसे तुम अपमानित हुए। हमारा वाक्य एक प्राकृतिक पदार्थ है। उसे तुमने श्रवणेन्द्रियद्वारा ग्रहण किया, इस लिए तुम्हें दुःख हुआ। अतएव प्रकृतिके अतिरिक्त कोई दुःख नहीं है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि प्रकृतिघटित दुःखका अनुभव पुरुषको क्यों होता है? असङ्गोऽयम्पुरुषः। पुरुष तो असंग है। (अ० १, सू० १५) अवस्थादि शरीरकी हैं, आत्माकी नहीं। (अ० १, सू० १४) न बाह्यान्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यधानात् श्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रयोरिव। बाह्य और आन्तरिकके बीच उपरज्य और उपरञ्जक भाव नहीं है, क्योंकि वे परस्पर संलग्न नहीं हैं, देशव्यवधानयुक्त हैं। जिस तरह एक आदमी पटनेमें रहता है और दूसरा श्रुघ्न नगरमें रहता है। इनका परस्पर अन्तर भी उसी प्रकारका है। तो फिर पुरुषको दुःख क्यों होता है?

प्रकृतिके साथ संयोग ही पुरुषके दुःखका कारण है। यद्यपि प्रकृति और पुरुष जुदा जुदा हैं—दोनोंमें बाह्य और आन्तर देशव्यवधान है, किन्तु ऐसा नहीं है कि उनमें किसी प्रकारका संयोग है ही नहीं। यदि एक स्फटिकके पात्रके पास गुलाबका फूल रक्खा जाय, तो वह फूलके रंगके समान गुलाबी रंगका हो जायगा और इसलिए कहा जायगा कि फूल और पात्रमें एक प्रकारका संयोग है। प्रकृति और पुरुषका संयोग भी इसी प्रकारका है। जिस तरह फूल और पात्रमें व्यवधान रहनेपर भी पात्रका वर्ण विकृत हो सकता है, उसी प्रकार प्रकृतिसे जुदा होने पर भी पुरुष विकारयुक्त होता है। परन्तु इस प्रकारका संयोग नित्य नहीं होता है, यह स्पष्ट है; इसलिए इसका उच्छेद हो सकता है और इस संयोगका उच्छेद होनेसे ही दुःखके या विकृतिके कारण दूर हो सकते हैं। अतएव इस संयोगकी उच्छित्ति ही दुःखनिवारणका उपाय है और यही पुरुषार्थ है। यद्वातद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः। (अ० ६, सू० १०)।

यह प्रकृति-पुरुषसंयोगकी उच्छित्ति ही सांख्यका अपवर्ग या मोक्ष है और वह विवेकके द्वारा प्राप्त हो सकता है। प्रकृति-पुरुषसम्बन्धी ज्ञानको ही विवेक कहते हैं। अतएव ज्ञान ही मुक्ति है। जिस तरह पाश्चात्य सभ्यताका मूल

तत्त्व 'ज्ञान ही शक्ति' (Knowledge is Power) है, उसी प्रकार हिन्दूसभ्यताका मूल तत्त्व 'ज्ञान ही मुक्ति' है। दो जातियाँ दो पृथक् उद्देश्योंके अनुसन्धानमें एक ही मार्गपर चलीं, उनमेंसे पाश्चात्योंने तो शक्तिको पाया; पर हमने—पौर्वात्योंने—क्या मुक्तिको पा लिया है ? वास्तवमें एक साथ यात्रा करके भी हमने पृथक् पृथक् फल पाये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यूरोपीय, शक्तिका अनुसरण करनेवाले हैं और यही उनकी उन्नतिका मूल है। हम लोग शक्तिके प्रति यत्नहीन हैं और यही हमारी अवनतिका मूल है। यूरोपीयोंका उद्देश्य ऐहिक है; इसलिए वे इस समय विजयी हैं। हम लोगोंका उद्देश्य पारकालिक है, इसलिए हम इस कालमें जयी नहीं हुए; और परकालमें होंगे या नहीं, इस विषयमें मतभेद है।

किन्तु ज्ञान ही मुक्ति है, यह बात सत्य न होनेपर भी कहना होगा कि इसके द्वारा भारतवर्षको बहुत लाभ हुआ है। प्राचीन वैदिक धर्म क्रियात्मक था। प्राचीन आर्य लोग प्राकृतिक शक्तिकी पूजाको ही एकमात्र कल्याणकारी समझते थे। प्राकृतिक शक्तियाँ अतिशय प्रबल, स्थिर, अशासनीय, कभी अत्यन्त मंगलकर और कभी अमंगलकर हैं, यह देखकर शुरू शुरूके ज्ञानियोंने उन्हें इन्द्र, वरुण, मरुत्, अग्नि आदि देव माना और उनकी स्तुति तथा उपासना की। धीरे धीरे उनको प्रसन्न करनेके लिए यज्ञ यागादिकी प्रबलता हो गई। अन्तमें वे ही सब यज्ञ यागादि मनुष्योंके प्रधान कार्य और पारत्रिक सुखके एकमात्र उपाय समझे जाकर लोगोंके एकमात्र अनुष्ठेय हो गये। सारे शास्त्र केवल उन्हींकी आलोचनाके लिए रचे गये—प्रकृत ज्ञानकी ओर आर्यजातिने विशेष ध्यान नहीं दिया। वेदोंकी संहितायें, ब्राह्मण, उपनिषत्, आरण्यक और सूत्रग्रन्थ केवल क्रियाकलापकी बातोंसे भरे हुए हैं। यदि प्रकृत ज्ञानकी थोड़ी बहुत चर्चा की जाती थी, तो वह केवल वेदोंकी आनुषंगिक बात समझकर ही की जाती थी। इसी कारण इस प्रकारकी चर्चा करनेवाले समस्त शास्त्र वेदांग कहलाये। ज्ञान जब इस तरह क्रियाकी दासत्वश्रृंखलामें बँध गया, तब उसकी उन्नति रुक गई। मोक्ष कर्मजन्य है, इस विश्वासके भारतभूमिमें जड़ जमा लेनेके कारण ही यह सब हुआ। प्रकृत ज्ञानकी आलोचनाके अभावमें वेदभक्ति और भी प्रबल हो

गई। मनुष्यचित्तकी स्वाधीनताका सर्वथा लोप हो गया। मनुष्य विवेकशून्य, मंत्रमुग्ध, शृंखलबद्ध पशु बन गया।

इसी समय सांख्यकारने घोषणा की कि कर्म अर्थात् होम यागादिके अनुष्ठान पुरुषार्थ नहीं हैं, ज्ञान ही पुरुषार्थ है। ज्ञान ही मुक्ति है। कर्म पीडित भारतवर्षने उनकी इस घोषणाको ध्यानसे सुना।

सांख्य-तत्त्व।

अधिकांश लोगोंका मत यह है कि जगत् सृष्ट (बनाया हुआ) है और कोई एक जगत्कर्त्ता है। जब सामान्य घटपटादि भी किसी एक कर्त्ताके बिना नहीं बनते हैं, तब इस असीम जगतका कोई कर्त्ता नहीं होगा, यह कैसे संभव हो सकता है ?

एक और दलके लोग हैं जो कहते हैं कि यह जगत् सृष्ट है और इसका कोई बनानेवाला है, यह प्रमाणित नहीं होता। ऐसे लोगोंको साधारणतः नास्तिक कहते हैं; परन्तु नास्तिक कहनेसे ही उन्हें मूर्ख नहीं कहा जा सकता। वे अपने पक्षका समर्थन युक्तिपूर्वक करते हैं। एक तो उनकी युक्तियाँ अत्यन्त दुरूह हैं और दूसरे यहाँ उनका परिचय देनेका कोई प्रयोजन नहीं मालूम होता है। फिर भी यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि ईश्वरका अस्तित्व और सृष्टिप्रक्रिया ये दो जुदा जुदा तत्त्व हैं। ईश्वरवादी भी कह सकते हैं कि हम ईश्वर मानते हैं; परन्तु उसकी सृष्टिक्रिया नहीं मानते। ईश्वर जगतका नियन्ता है। उसके बनाये हुए नियम आदि हम देखते हैं; परन्तु उन नियमोंके अतिरिक्त भी कोई सृष्टि है, यह हम नहीं कह सकते।

इस समय बहुतसे ईसाई इसी मतके माननेवाले हैं। इनमें कौनसा मत यथार्थ है और कौनसा अयथार्थ, यह हम नहीं कहेंगे। हमारे कहनेका अभिप्राय केवल यह है कि सांख्यकर्त्ता इसी मतके हैं। सांख्यकार ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते, यह हम आगे चलकर कहेंगे। वे एक ‘ सर्वविध सर्वकर्त्ता ’ पुरुषको मानते हैं; परन्तु इस प्रकार पुरुष मानकर भी उसे सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते हैं। सृष्टिको भी नहीं मानते हैं। उनके मतसे यह जगत् प्राकृतिक क्रिया मात्र है।

कका कारण ख, खका कारण ग, गका कारण घ; इस तरह कारणपरम्पराका पता लगाते लगाते किसी एक स्थानमें अवश्य ही ठहरना पड़ेगा। क्यों कि कारण-श्रेणी कभी अनन्त नहीं हो सकती। हम जिस फलको खा रहे हैं, वह अमुक वृक्षमें फला है, वह वृक्ष एक बीजसे उत्पन्न हुआ था और वह बीज अन्य वृक्षके फलसे उत्पन्न हुआ था। इस तरह अनन्तानुसन्धान करनेपर भी एक आदिम बीज अवश्य मानना पड़ेगा। इसी तरह जगतमें जो आदिम बीज है, जहाँ कारणानु-सन्धान बन्द हो जाता है, सांख्य उसी आदिम कारणको मूल प्रकृति कहता है। (१७४)

जगतकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें दूसरा प्रश्न यह है कि मूल कारण चाहे जो हो, परन्तु उस कारणसे इस विश्वसंसारने ये रूप अवयव आदि किस प्रकार प्राप्त किये ? सांख्यकारका उत्तर यह है—

ये जागतिक पदार्थ २५ प्रकारके हैं— १ पुरुष, २ प्रकृति, ३ महत् (मन), ४ अहंकार (अहंज्ञान), ५–९ पंचतन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) १०–२० ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय) २१–२५ स्थूल भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश)। इन्हींसे विश्व निर्माण हुआ है।

इन तत्त्वोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस समय ये बहुत संगत और अर्थयुक्त भी नहीं जान पड़ते। किन्तु हमारे पुराणोंमें जो सृष्टि-क्रिया वर्णित है, वह इसी सांख्यके मतसे ब्रह्मांडकी बातका संयोग मात्र है।

वेदमें कहीं भी सांख्यदर्शनानुयायी सृष्टिका वर्णन नहीं है। ऋग्वेद, अथर्ववेद और शतपथब्राह्मणमें सृष्टिकथन है, किन्तु उनमें महदादिका उल्लेख नहीं है। मनुमें भी सृष्टिकथन है, पर उसमें भी महदादि नहीं है। रामायणकी भी यही दशा है। केवल पुराणोंमें है। अतएव वेद, मनु और रामायणके बाद और निदान विष्णु भागवत और लिङ्गपुराणके पूर्व सांख्यदर्शनकी रचना हुई है। महाभारतमें भी सांख्यका उल्लेख है। परन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि महाभारतका कौन अंश पुराना है और कौन नया। कुमारसम्भवके दूसरे सर्गमें जो ब्रह्मस्तोत्र है, वह सांख्यानुसारी है।

सांख्यप्रवचनमें विष्णु, हरि, रुद्रादिका उल्लेख नहीं है। पुराणोंमें है। पौराणिकोंने निरीश्वर सांख्यको अपने मनके अनुकूल गढ़ लिया है।

निरीश्वरता ।

सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है और इसी रूपमें उसकी प्रसिद्धि भी है; परन्तु कोई कोई लोग कहते हैं कि वह निरीश्वरवादी नहीं है। डाक्टर हाल ऐसे ही लोगोंमेंसे एक हैं। मेक्समूलर भी ऐसा ही मानते थे, परन्तु अब उनका मत बदल गया है। कुसुमांजलिके कर्त्ता उदयनाचार्य कहते हैं कि सांख्यमतावलम्बी 'आदि विद्वान्'के उपासक हैं। अतएव उनके मतसे भी सांख्य निरीश्वर नहीं है। सांख्यप्रवचनके भाष्यकार विज्ञानभिक्षुका भी कथन है कि 'ईश्वर नहीं है' यह कहना कापिलसूत्रका उद्देश्य नहीं है। अतएव इस विषयको कुछ विस्तारके साथ बतलानेकी आवश्यकता है कि सांख्यदर्शन निरीश्वर क्यों है।

सांख्यप्रवचनके प्रथम अध्यायका ९२ वाँ सूत्र इस बातका मूल है। वह सूत्र यह है:-"ईश्वरासिद्धेः"। पहले इस सूत्रका अभिप्राय समझ लेना चाहिए।

सूत्रकार इसके पहले 'प्रमाण'का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा है, प्रमाण तीन प्रकारके हैं,—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। ८९ वें सूत्रमें प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है—"यत्सम्बन्धं सत्तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्।" अतएव जो सम्बद्ध नहीं है, वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस लक्षणमें दो दोष लगते हैं। एक तो यह कि योगिगण योगबलसे असम्बद्धको भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं। आगेके ९०-९१ वें सूत्रोंमें सूत्रकारने इस दोषको अपनीत कर दिया है। अब रहा दूसरा दोष यह कि ईश्वरका प्रत्यक्ष नित्य है, इस लिए उसके सम्बन्धमें 'सम्बन्ध' की बात व्यवहृत नहीं हो सकती। इसका उत्तर उक्त ९२ वें सूत्रसे सूत्रकार देते हैं कि ईश्वर सिद्ध नहीं है, अर्थात् ईश्वर है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। अतएव उसका प्रत्यक्ष सम्बन्धमें व्यवहृत न होनेसे यह लक्षण दुष्ट नहीं हुआ। यहाँपर भाष्यकार महाशय कहते हैं कि देखो, यह कहा गया है कि 'ईश्वर असिद्ध है' किन्तु यह तो नहीं कहा गया है कि 'ईश्वर नहीं है'?

न कहा गया हो, न सही, तथापि इस दर्शनको निरीश्वर कहना होगा। ऐसा शायद ही कोई नास्तिक होगा, जो कहता होगा कि ईश्वर नहीं है। जो कहता हो कि इस प्रकारका कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि 'ईश्वर है', उसको भी नास्तिक कहना चाहिए।

'जिसके अस्तित्वका प्रमाण नहीं है,' और 'जिसके अनस्तित्वका प्रमाण है' ये दो जुदा जुदा बातें हैं। लाल रंगके कौएके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं है, परन्तु साथ ही उसके अनस्तित्वका भी कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु ऐसे चतुष्कोणके अनस्तित्वका प्रमाण है कि जो गोलाकार हो। यह तो निश्चित है कि आप गोलाकार चतुष्कोण नहीं मानेंगे; किन्तु पूछना यह है कि लाल-रंगका कौआ मानेंगे या नहीं? जिस तरह उसके अनस्तित्वका प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार उसके अस्तित्वका भी प्रमाण नहीं है। जहाँ अस्तित्वका प्रमाण नहीं है, वहाँ हम नहीं मानेंगे। अनस्तित्वका प्रमाण नहीं है, तो न रहने दो, परन्तु जब तक अस्तित्वका प्रमाण नहीं पावेंगे, तब तक कभी न मानेंगे। हाँ, जब अस्तित्वका प्रमाण पा जावेंगे, तब मान लेंगे। प्रत्ययका या विश्वासका यही प्रकृत नियम है। जो विश्वास इससे उलटा है, वह भ्रान्ति है। "यद्यपि अमुक पदार्थ है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है, तथापि वह हो, तो हो भी सकता है" ऐसा सोचकर जो उस पदार्थके अस्तित्वकी कल्पना कर लेते हैं, वे भ्रान्त हैं। अतएव नास्तिकगण दो प्रकारके हुए। एक तो व जो केवल ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणाभाववादी हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर हो तो हो भी सकता है; परन्तु वह 'है', ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे प्रकारके नास्तिक वे हैं जो कहते हैं कि केवल ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणोंका ही अभाव नहीं है; इस बातके भी अनेक प्रमाण हैं कि ईश्वर नहीं है। आधुनिक यूरोपके अनेक लोग इसी मतके माननेवाले हैं। एक फरासीसी लेखक कहता है--"तुम कहते हो कि ईश्वर निराकार है, किन्तु साथ ही उसे चेतनादि मानसिकवृत्तिविशिष्ट भी बतलाते हो। क्या तुमने कहीं चेतनादि मानसिक वृत्तियोंको शरीरसे जुदा देखा है? यदि कहीं नहीं देखा, तो या तो ईश्वर साकार है अथवा उसका अस्तित्व ही नहीं है। ईश्वरको तुम साकार तो कभी मानोगे नहीं, अतएव यही मानना पड़ेगा कि ईश्वर नहीं है।" यह दूसरे प्रकारका नास्तिक है।

"ईश्वरासिद्धेः।" यदि केवल इसी सूत्रपर भार डाला जाय, तो सांख्यको प्रथम प्रकारका नास्तिक कह सकते हैं। किन्तु उसने और भी अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि ईश्वर नहीं है।

यहाँपर सांख्यप्रवचनमें ईश्वरके अनस्तित्व सम्बन्धमें जितने सूत्र हैं, उन सबको एकत्र करके उनका मर्म कुछ विस्तारके साथ समझाया जाता है:—

सांख्यकार कहते हैं कि ईश्वर असिद्ध है (अ० १, सू० ९२)। कोई प्रमाण नहीं है, इसीसे असिद्ध है (प्रमाणाभावात् न तत्सिद्धिः। ५, १०) सांख्यके मतमें पूर्वकथनानुसार तीन प्रमाण माने गये हैं;—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनमेंसे प्रत्यक्षकी तो बात ही नहीं है—ईश्वर प्रत्यक्षका विषय ही नहीं माना जाता। किसी वस्तुके साथ यदि अन्य किसी वस्तुका नित्य सम्बन्ध रहता हो, तो एकके देखनेसे दूसरीका अनुमान किया जाता है। परन्तु किसी वस्तुके साथ ईश्वरका कोई नित्य सम्बन्ध नहीं देखा जाता; अतएव अनुमानके द्वारा भी ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। (सम्बन्धाभावान्नानुमानम्। ५, ११) यदि इस सूत्रको पाठक अच्छी तरह न समझे हों, तो कुछ और भी अधिक स्पष्टतासे समझानेका यत्न करता हूँ। पर्वतमें धुएँको देखकर तुम सिद्ध करते हो कि वहाँपर अग्नि है। इस प्रकारका सिद्धान्त तुम क्यों करते हो? इसलिए कि तुमने जहाँ जहाँपर धुआँ देखा है, वहाँ अग्नि भी देखी है, अर्थात् अग्निके साथ धुएँका नित्यसंबंध है।

यदि कोई तुमसे आकर पूछे कि तुम्हारे प्रपितामह (परदादा) के कितने हाथ थे, तो तुम कहोगे कि दो। तुमने तो उनको कभी देखा नहीं, फिर कैसे कह दिया कि उनके दो हाथ थे? तुम कहोगे, मनुष्यमात्रके दो हाथ होते हैं इसलिए। अर्थात् मनुष्यत्वके साथ द्विभुजताका नित्यसंबंध है।

यह नित्यसम्बन्ध या व्याप्ति ही अनुमानका एक मात्र कारण है। जहाँ यह सम्बन्ध नहीं होता, वहाँपर पदार्थान्तरका अनुमान नहीं हो सकता। अब इस प्रकरणमें जगतके किस पदार्थके साथ ईश्वरका नित्यसम्बन्ध है कि जिससे ईश्वरका अनुमान किया जा सके? सांख्यकार उत्तर देते हैं कि किसीके साथ नहीं।

तीसरा प्रमाण शब्द है। आप्तवाक्योंको शब्द प्रमाण माना है और वेद ही आप्तवाक्य हैं। सांख्यकार कहते हैं कि वेदमें ईश्वरका कोई प्रसंग नहीं है, बल्कि वेदमें यही कहा है कि सृष्टि प्रकृतिकी क्रिया है, ईश्वरकृत नहीं है (श्रुतिरपि-प्रधानकार्यत्वस्य। ५, १२) किन्तु जो वेदको पढ़ेंगे वे देखेंगे कि यह बात बिलकुल असंगत है, अर्थात् उन्हें उसमें ईश्वरके प्रसंग मिलेंगे। इस आशंकाका समाधान करनेके लिए सांख्यकार कहते हैं कि वेदमें ईश्वरका जो उल्लेख है, वह या तो मुक्तात्माओंकी प्रशंसा है, या मान्यदेवताकी (सिद्धस्य) उपासना। (मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासना सिद्धस्य वा। १, ९५)

यह दिखला दिया कि ईश्वरके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं है। अब सांख्यने ईश्वरके अनस्तित्वके सम्बन्धमें जो प्रमाण दिये हैं उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है:—

ईश्वर किसे कहते हैं ? जो सृष्टिकर्त्ता और पापपुण्यका फलविधाता हो उसे। जो सृष्टिकर्त्ता है वह मुक्त है या बद्ध ? यदि वह मुक्त है तो उसके सृष्टि रचना करनेकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? और यदि वह मुक्त नहीं बद्ध है, तो फिर उसमें अनन्तज्ञान और अनन्तशक्ति सम्भव नहीं हो सकती। अतएव कोई एक व्यक्ति सृष्टिकर्त्ता है, यह बात असंभव है। (मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः। १, ९३ और उभयथाप्यसत्करत्वम्। १, ९४)

यह तो हुई सृष्टिकर्तृत्वसम्बन्धी बात। अब पाप-पुण्यके दण्डविधातृत्व सम्बन्धकी बात लीजिए। इस विषयमें सांख्यकार कहते हैं कि यदि ईश्वर कर्मफलका विधाता है, तो यह अवश्य है कि वह कर्मानुयायी फल देगा। अर्थात् पुण्यकर्मका शुभफल देगा और पापकर्मका अशुभ फल। यदि वह ऐसा न करेगा, अपनी इच्छाके अनुसार फल देगा, तो देखना चाहिए कि वह किस प्रकारसे फलविधान कर सकता है। यदि अच्छी तरह विचार करके फल न देगा, तो ऐसा वह आत्मोपकारके लिए ही या किसी स्वार्थके लिए ही कर सकता है और यदि ऐसा हुआ तो वह सामान्य लौकिक राजाके ही समान आत्मोपकारी और सुखदुःखके अधीन ठहरा। यदि ऐसा न मानकर कहोगे कि वह कर्मके अनुसार ही फल देता है, तो फिर कर्मको ही फलका दाता विधाता क्यों नहीं कहते ? फल देनेके लिए फिर कर्मके ऊपर ईश्वरानुमानकी क्या आवश्यकता है ?

अतएव सांख्यकार दूसरे प्रकारके घोरतर नास्तिक हैं; परन्तु पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि वे वेदको मानते हैं !

ईश्वर न मानकर भी सांख्य वेदको क्यों मानता है, इस बातको हम आगे लिखेंगे। मालूम होता है कि सांख्यकी यह निरीश्वरता ही बौद्ध धर्मकी पूर्व-सूचना है।

ईश्वरतत्त्वके सम्बन्धमें सांख्यदर्शनकी एक बात बाकी रह गई। पहले कहा जा चुका है कि बहुतोंके खयालसे कापिल या सांख्यदर्शन निरीश्वर नहीं है। यह कहनेका एक कारण है। तृतीय अध्यायके ५७ वें सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं:—"ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।" अर्थात् इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध हुई। किस प्रकारके ईश्वरकी? "स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" ३, ५६। अर्थात् जो सबका जाननेवाला और सर्वकर्त्ता है। ऐसी अवस्थामें सांख्य निरी-श्वर कैसे हो सकता है?

वास्तवमें ये सूत्र ईश्वरके सम्बन्धमें नहीं कहे गये हैं। सांख्यकार कहते हैं कि ज्ञानमें ही मुक्ति है, और किसीसे भी मुक्ति नहीं हो सकती। पुण्यमें अथवा सत्त्वविशाल ऊर्द्धलोकमें भी मुक्ति नहीं है। क्योंकि वहाँसे पुनर्जन्म होता है और जरामरणादि दुःख भोगना पड़ते हैं। अन्तमें वे यह भी कहते हैं कि जगत्कारणमें लयप्राप्त हो जाने पर भी मुक्ति नहीं है। क्योंकि उससे (लयप्राप्त अवस्थासे) जलमें डूबे हुएके पुनरुत्थान (फिरसे ऊपर आ जाने) के समान पुनरुत्थान होता है। (३, ५४)। पूर्वोक्त सूत्र उन्होंने उसी लय-प्राप्त आत्माके सम्बन्धमें कहा है कि वह सबका जाननेवाला और सर्वकर्त्ता है। उसको यदि तुम ईश्वर कहना चाहो तो ईदृशेश्वर सिद्ध है। परन्तु वह जगत्सृष्टा या विधाता नहीं हो सकता। उक्त सूत्रमें जो 'सर्वकर्त्ता' शब्द है, उसका अर्थ सर्वशक्तिमान् है, सर्वसृष्टिकारक नहीं।

वेद ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि सांख्यप्रवचनके कर्त्ता ईश्वरको नहीं मानते हैं, परन्तु वेदको मानते हैं। मालूम होता है कि पृथिवीमें शायद ही ऐसा कोई दर्शन या शास्त्र होगा, जो धर्मपुस्तकका तो प्रामाण्य स्वीकार करता हो, परन्तु धर्मपुस्तकके विषयीभूत और प्रणेता जगदीश्वरके अस्तित्वको स्वीकार

न करता हो। यह 'वेदभक्ति' भारतवर्षकी बड़ी ही विस्मयकारिणी चीज है इस विषयको हम कुछ विस्तारके साथ लिखना चाहते हैं।

मनुजी कहते हैं—वेद शब्दसे सबके नाम, कर्म, और अवस्थाएँ निर्मित हुई थीं। वेद पितृ, देवता और मनुष्योंका चक्षु है। जो वेदसे भिन्न है, वह परकालमें निष्फल है। वेदको छोड़कर और सब ग्रन्थ मिथ्या हैं। भूत भविष्यत् वर्तमान, शब्द स्पर्श रूप गन्ध, चतुर्वर्ण, तीन लोक, चतुराश्रम आदि सब ही वेदसे प्रकाश हुए हैं। वेद मनुष्योंका परम साधन है। जो वेदज्ञ है, वही सेनापतित्व, राज्यशासकत्व और सर्वलोकाधिपत्यके योग्य है। जो वेदज्ञ है वह चाहे जिस आश्रममें रहे, सदा ब्रह्ममें लीन होने योग्य है। धर्मजिज्ञासुओंके लिए वेद ही परम प्रमाण है। वेद अज्ञोंके लिए और अज्ञानियोंके लिए भी शरण है। जो स्वर्ग या आनन्त्यकी कामना करते हैं, उनके लिए यही शरण है। जो ब्राह्मण तीन लोककी हत्या करनेवाला और जहाँ तहाँ खानेवाला है, उसे यदि ऋग्वेद याद है, तो फिर उसे कोई पाप नहीं लग सकता! शथपथ ब्राह्मणमें कहा है कि वेदान्तर्गत सर्वभूत हैं। सकल छन्दः, स्तोम, प्राण और देवताओंका आत्मा वेद है। वेद ही है। वेद अमृत है। जो सत्य है, वही वेद है। विष्णुपुराणमें कहा है कि देवादिके रूप, नाम, कर्म, प्रवर्तन, वेद शब्दसे ही सृष्ट हुए थे। इसी पुराणमें एक और जगह विष्णुको वेदमय ऋग्-यजुः-सामात्मक कहा है। महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा है—वेद शब्दसे सर्व भूतोंके रूपनामकर्मादिकी उत्पत्ति हुई है। ऋक्संहिता और तैत्तिरीय संहिताके मंगलाचरणमें सायनाचार्य और माधवाचार्यने लिखा है—वेदसे अखिल जगत्का निर्माण हुआ है।

इस तरह सर्वत्र ही वेदका माहात्म्य बतलाया है। किसी देशमें, किसी भी धर्मग्रन्थकी—बाइबल कुरान आदिकी—ऐसी महिमा नहीं गाई गई।

अब प्रश्न यह है कि जो वेद इस तरह सबका पूर्वगामी और उत्पत्तिका मूल है, वह आया कहाँसे? इस विषयमें जुदा जुदा लोगोंके जुदा जुदा मत हैं। कोई कोई कहते हैं कि वेदका कर्त्ता कोई भी नहीं है—यह किसीका भी बनाया हुआ नहीं है; यह नित्य और अपौरुषेय है। दूसरे कहते हैं कि यह ईश्वरप्रणीत है, इस लिए सृष्ट और पौरुषेय है। हिन्दूशास्त्रोंकी यह कैसी

आश्चर्यकारिणी विचित्रता है कि वेदोंको तो वे सब ही मानते हैं, परन्तु वेदोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें उनमेंसे किन्ही दो ग्रन्थोंकी भी एकता नहीं दिखलाई देती।

ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें लिखा है कि वेदपुरुष यज्ञसे उत्पन्न हुआ। अथर्ववेदमें एक जगह कहा है कि ऋक्--यजुः--साम स्तम्भसे उत्पन्न हुए हैं, दूसरी जगह कहा है कि वेदोंका जन्म इन्द्रसे हुआ है, तीसरी जगह कहा है कि ऋग्वेद कालसे उत्पन्न हुआ है और चौथी जगह कहा है कि वेद गायत्रीमें निहित है। शतपथ ब्राह्मणमें कहा है कि अग्निसे ऋक्, वायुसे यजुष्, और सूर्यसे सामवेदकी उत्पत्ति हुई है। छान्दोग्य उपनिषत् और मनुमें भी इसी प्रकार कहा है। शतपथब्राह्मणमें अन्यत्र लिखा है कि वेदको प्रजापतिने बनाया है। इसी ग्रन्थमें और एक जगह लिखा है कि प्रजापतिने वेदसहित जलमें प्रवेश किया। जलसे अण्डा और अण्डेसे पहले तीन वेद उत्पन्न हुए। एक जगह और लिखा है कि वेद महाभूत (ब्रह्मा) का निःश्वास है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कहा है कि वेद प्रजापतिके श्मश्रु हैं। विष्णुपुराणमें कहा है कि वेद ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुए। महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है कि सरस्वती और वेद विष्णुने मनसे सृजन किये और शान्तिपर्वमें सरस्वतीको वेदमाता कहा है।

वेदमन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषत्, स्मृति, पुराण और इतिहासमें वेदोपत्तिके विषयमें इस प्रकार लिखा है। देखा जाता है कि इन सब ग्रन्थोंमें वेदोंका सृष्टत्व और पौरुषेयत्व प्रायः सर्वत्र ही स्वीकृत हुआ है--अपौरुषेयत्व कदाचित् ही कहीं बतलाया गया है। परन्तु पीछेके प्रायः सब ही टीकाकार और दार्शनिक विद्वान् अपौरुषेयत्ववादी हैं। उन लोगोंके मत ये हैं:—

सायनाचार्यने ऋग्वेदकी टीकामें कहा है कि वेद अपौरुषेय है। क्योंकि उसे किसी मनुष्यने नहीं बनाया। माधवाचार्य तैत्तिरीय यजुर्वेदकी टीकामें कहते हैं कि जिस तरह काल आकाशादि नित्य हैं, उसी तरह वेद भी नित्य हैं। ब्रह्माको उन्होंने वेदवक्ता स्वीकार किया है। मीमांसक कहते हैं कि वेद नित्य और अपौरुषेय है। शब्द नित्य है, इस लिए वेद भी नित्य है। शंकराचार्य भी इसी मतको मानते हैं। नैयायिक इसका प्रतिवाद करते हैं और कहते हैं—मन्त्र और आयुर्वेदके समान, ज्ञानी व्यक्तिके वचन प्रामाण्य होते हैं, इसी लिए वेदोंकी भी प्रमाणता माननी चाहिए। वैशेषिकोंका मत है कि वेद ईश्वरप्रणीत है। कुसुमांजलि-कर्त्ता उदयनाचार्यका भी यही मत है।

इन सब शास्त्रोंकी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि कोई वेदको नित्य और अपौरुषेय कहता है और कोई सृष्ट तथा ईश्वरप्रणीत बतलाता है। इन दोनोंको छोड़कर और तीसरा सिद्धान्त नहीं हो सकता; परन्तु सांख्यप्रवचनकारका मत सबसे निराला है। मुरारेस्तृतीयः पन्थः। वे पहले कहते हैं कि वेद कदापि नित्य नहीं हो सकता। स्वयं वेदमें ही उसके कार्यत्वका प्रमाण मौजूद है। यथा–"स तपोऽतप्यत तस्मात् तपस्तेपाना त्रयो वेदा अजायन्त।" जब वेद ही कहता है कि इस तरह वेदका जन्म हुआ है, तब वेद कदापि नित्य और अपौरुषेय नहीं हो सकता और जो अपौरुषेय नहीं है, वह अवश्य ही पौरुषेय होगा। परन्तु सांख्यकारके मतसे वेद न अपौरुषेय है और न पौरुषेय ही है! पुरुष अर्थात् ईश्वर नहीं है--वह सिद्ध नहीं होता, इस लिए वह पौरुषेय नहीं है। सांख्यकार और भी कहते हैं कि वेदके रचनेके योग्य जो पुरुष है, वह मुक्त नहीं हो सकता; वद्ध होगा। जो मुक्त है वह प्रवृत्तिके अभावमें वेद सृजन नहीं कर सकता और जो वद्ध है वह सर्वज्ञ नहीं–असर्वज्ञ होगा, इस लिए वेद बनानेमें समर्थ नहीं हो सकता।

तब, पौरुषेय भी नहीं है और अपौरुषेय भी नहीं है, भला यह कहीं हो सकता है? सांख्यकार कहते हैं--हाँ, हो सकता है–यथा अंकुरादिः (५, ८४)। जो लोग हिन्दूदर्शनशास्त्रोंका नाम सुनते ही विश्वास कर लेते हैं कि उनमें सर्वत्र ही आश्चर्यजनक बुद्धिका कौशल है, उनके भ्रमनिवारणके लिए इस बातका विशेष उल्लेख किया जाता है। सांख्यकारकी बुद्धिकी तीक्ष्णता भी विचित्र है और भ्रान्ति भी विचित्र है। हमारा यह विश्वास नहीं ह कि सांख्यकार इस रहस्यजनक भ्रान्तिके गढ़ेमें असावधानीसे गिर पड़े हैं। हमारी समझमें सांख्यकारका हृदय वेदको नहीं मानता था, परन्तु उस समयके समाजमें ब्राह्मण एवं दार्शनिक कोई भी साहस करके वेदकी अवज्ञा नहीं कर सकता था। इस लिए उन्हें मौखिक वेदभक्ति प्रकाश करनी पड़ी है और जब वेदोंको मानना पड़ा है, तब जहाँ जहाँ आवश्यकता हुई है वहाँ वहाँ प्रतिवादियोंको निरस्त करनेके लिए उन्होंने वेदोंकी दुहाई दी है। किन्तु यह निश्चित जान पड़ता है कि वे वेदोंको अन्तरंगसे नहीं मानते थे। वेद पौरुषेय नहीं है और अपौरुषेय भी नहीं है, यह वचन केवल व्यंगमात्र है। इस बातके कहनेमें सूत्रकारका

यह अभिप्राय जान पड़ता है कि–" देखो, यदि तुम वेदको सर्वज्ञानयुक्त कहना चाहते हो, तो वेद या तो पौरुषेय होगा या अपौरुषेय। इनमेंसे इस बातका प्रमाण तो वेदमें ही मौजूद है कि वेद अपौरुषेय नहीं है। तब यदि वह पौरुषेय होगा, तो यह भी कहना होगा कि मनुष्यकृत है। क्योंकि यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि सर्वज्ञ पुरुष कोई नहीं है।" यदि इन सब सूत्रोंका इस प्रकार अर्थ किया जाय, तो अद्वितीय दार्शनिक सांख्यकारको अल्पबुद्धि कहना पड़ेगा; परन्तु यह कदापि नहीं कहा जा सकता।

जब वेद पौरुषेय नहीं है और अपौरुषेय भी नहीं है, तब वेद माननीय कैसे हो सकता है? सांख्यकारने इस प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक समझा है। यदि आजकलकी बात देखी जाय, तो भारतवर्षमें इससे अधिक गुरुतर प्रश्न और कोई भी नहीं है। एक दल कहता है कि सनातन धर्म वेदमूलक है, तुम वेदको क्यों नहीं मानते? दूसरा दल कहता है, हम उसे क्यों मानें? सारा भारत इन्हीं दो दलोंमें विभक्त है। इन दो प्रश्नोंके उत्तरमें विवाद है और इसी प्रश्नके समाधानमें भारतका कल्याण तथा अकल्याण निर्भर है। सारे हिन्दुओंको स्वधर्ममें स्थिर रहना चाहिए या उसे सबको ही छोड़ देना चाहिए? अर्थात् हम वेदको मानें या नहीं? और यदि मानें तो क्यों? एक बार और भी यह प्रश्न उठा था। जिस समय धर्मशास्त्रोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर भारतवर्ष त्राहि त्राहि करके पुकार रहा था, उस समय शाक्यसिंह बुद्धदेवने कहा था—" तुम वेदको क्यों मानते हो? वेदको मत मानो।" यह सुनकर वेदवित् वेदभक्त दार्शनिक मण्डलीने इस प्रश्नका उत्तर दिया था। जैमिनि, बादरायण, गौतम, कणाद, कपिल, जिनकी जैसी धारणा थी, उन्होंने वैसा ही उत्तर दिया था। अतएव प्राचीन दर्शनशास्त्रोंमें उक्त प्रश्नका उत्तर रहनेसे दो बातें जानी जाती हैं। एक तो यह कि आजकलकी अँगरेजी शिक्षाके दोषसे ही लोग वेदोंकी अलंघनीयताके विषयमें सन्देह करने लगे हों, सो बात नहीं है। यह सन्देह बहुत पुराने समयसे चला आ रहा है। प्राचीन दार्शनिकोंके बाद शंकराचार्य, माधवाचार्य, सायनाचार्य आदि नवीन दार्शनिक भी इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए चिन्तित हुए थे। दूसरी यह कि इस प्रश्नको पहले पहल बौद्धोंने उठाया था और प्राचीन दार्शनिकोंने पहले पहल उसका उत्तर दिया था। अतएव बौद्ध धर्म और दर्शनशास्त्रोंकी उत्पत्ति समकालीन समझी जा सकती है।

वेदको हम क्यों मानें ? इस प्रश्नकी विचारभूमिमें मीमांसक जैमिनिको महारथी और नैयायिक गौतमको उसका प्रतिद्वन्द्वी समझना चाहिए। ऐसा नहीं है कि नैयायिकोंको वेद मान्य नहीं है। नहीं वे वेदको मानते हैं, परन्तु मीमांसक जिन जिन कारणोंसे वेदको मानते हैं, नैयायिक उनको अग्राह्य करते हैं। मीमांसक कहते हैं कि वेद नित्य और अपौरुषेय है। नैयायिक कहते हैं कि वेद आप्तवाक्य मात्र है। नैयायिकोंने जिन युक्तियोंसे मीमांसकमतका खण्डन किया है, उनका सारमर्म माधवाचार्यके सर्वदर्शन संग्रहपरसे नीचे दिया जाता है:—

मीमांसक कहते हैं कि सम्प्रदायाविच्छेदसे वेदकर्त्ता अस्मर्यमान है। सब बातें लोकपरम्परासे चली आ रही हैं, किन्तु यह किसीको भी स्मरण नहीं है कि वेदको किसने बनाया। इसपर नैयायिक कहते हैं कि प्रलय कालमें सम्प्रदायविच्छेद हो गया था। इस समय जो वेदका प्रणयन स्मरण नहीं है, सो इससे कुछ यह प्रमाणित नहीं होता है कि प्रलयके पहले वेद प्रणीत नहीं हुआ था। और यह भी तुम प्रमाण नहीं कर सकोगे कि वेदका कर्त्ता कभी किसीको स्मृत ही न था। वे और भी कहते हैं कि वेदवाक्य कालिदासादिके वाक्योंके समान ही वाक्य हैं। अतएव वेदवाक्य भी पौरुषेय वाक्य हैं। वाक्यत्व हेतुसे, मन्वादि वाक्योंके समान, वेदवाक्योंको भी पौरुषेय कहना होगा। मीमांसक कहते हैं कि जो वेदाध्ययन करता है, उसके पहले उसके गुरुने अध्ययन किया था, उसके पहले उसके गुरुने और उसके पहले उसके गुरुने; इस प्रकार जहाँ अनन्तपरम्परा है वहाँ वेद अनादि है। नैयायिक कहते हैं कि तब महाभारतादिके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार गुरुपरम्परा बतलाई जा सकती है और वे भी अनादि सिद्ध किये जा सकते हैं। यदि कहो कि महाभारतके कर्त्ता जो व्यास हैं वे स्मर्यमान हैं, तो वेदके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है कि-"ऋचःसामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत।" इस तरह पुरुषसूक्तमें वेदकर्त्ता भी निर्दिष्ट है। मीमांसक कहते हैं कि शब्द नित्य है, इस लिये वेद भी नित्य है। परन्तु शब्द नित्य नहीं है। क्योंकि शब्द सामान्यत्ववशातः घटवत् अस्मदादिके बाह्येन्द्रियग्राह्य है। मीमांसक उत्तर देते हैं कि गकारादि शब्द सुनते ही हमको प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह गकार है; अतएव शब्द नित्य है।

नैयायिक कहते हैं कि वह प्रत्यभिज्ञान सामान्य विषयत्ववशतः होता है; जिस तरह केश कटकर फिर उग आते हैं। मीमांसक और भी कहते हैं कि वेद अपौरुषेय है, इसका एक कारण यह है कि परमेश्वर अशरीरी है–उसके तालु आदि वर्णोच्चारण स्थान नहीं है। नैयायिक उत्तर देते हैं कि परमेश्वर स्वभावतः अशरीरी है, तो भी भक्तानुग्रहके अर्थ उसका शरीरग्रहण, असंभव नहीं है।

मीमांसकोंने इन सब बातोंका उत्तर दिया है, परन्तु विस्तारभयसे वह छोड़ दिया जाता है। गरज यह कि वेदको हम क्यों मानें, इस तर्कके प्राचीन दर्शनशास्त्रोंसे केवल तीन उत्तर प्राप्त होते हैं:—

१ वेद नित्य और अपौरुषेय है, इस लिए वह मान्य है। किन्तु यह बात वेदहीमें मौजूद है कि वह अपौरुषेय नहीं है। यथा–"ऋचःसामानि जज्ञिरे" इत्यादि।

२ वेद ईश्वरप्रणीत है, इसलिए वह मान्य है। प्रतिवादी कहेंगे कि वेद ईश्वरप्रणीत है, इसका कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं है। वेदमें लिखा है कि वेद ईश्वरसंभूत है। किन्तु जब वे वेदको मानते ही नहीं हैं, तब उसकी बात क्यों मानने चले? इस विषयको लेकर जो वादानुवाद हो सकता है, उसका पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं। उसको सविस्तर लिखनेकी आवश्यकता भी नहीं है। जो ईश्वरको ही नहीं मानते, वे वेदको ईश्वरप्रणीत कहकर स्वीकार नहीं कर सकते।

३. वेदकी निज शक्तिकी अभिव्यक्तिके द्वारा ही वेदकी प्रमाणता सिद्ध होती है। सांख्यप्रवचनकारने यही उत्तर दिया है। सायनने वेदार्थप्रकाशमें और शांकरब्रह्मसूत्र भाष्यमें इसी प्रकार निर्देश किया है। इस सम्बन्धमें केवल इतना ही वक्तव्य है कि यदि वेदमें इस प्रकारकी शक्ति हो, तो वेद अवश्य ही मान्य है। किन्तु वह शक्ति है या नहीं; यह एक स्वतंत्र विचार आवश्यक हो पड़ता है। अनेक लोग कहेंगे कि हम वेदमें कोई ऐसी शक्ति नहीं देखते। वेदका अगौरव हिन्दू शास्त्रोंमें भी मौजूद है। मुण्डकोपनिषत्के आरंभमें 'अपरा' और 'परा' इस तरह दो विद्यायें बतलाई गई हैं। इनमें वेदादिको अपरा और अक्षयप्राप्ति करानेवाली ब्रह्मविद्याको परा कहा है।

अर्थात् वेदविद्यासे इस पराविद्याको श्रेष्ठतर बतलाया है ×। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २; श्लोक ४२—४४ में वेदपरायणोंकी निन्दा की गई है +। भागवत-पुराण (४।२९, ४२) में नारद कहते हैं कि परमेश्वर जिसपर अनुग्रह करते हैं वह वेद त्याग कर देता है*। कठोपनिषत्‌में कहा है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन।" अर्थात् वेदके द्वारा आत्मा लभ्य नहीं हो सकता।

शास्त्रानुसन्धान करनेसे इस प्रकारके और भी वचन मिल सकते हैं। पाठक देखेंगे कि 'वेदको क्यों मानें' इस प्रश्नका हमने कोई उत्तर नहीं दिया। देनेकी हमारी इच्छा भी नहीं है। जो समर्थ हैं, वे इसकी मीमांसा करेंगे। हमने पूर्वगामी पण्डितोंके प्रदर्शित किये हुए पथपर परिभ्रमण करके जो देखा है, वही पाठकोंके सामने निवेदित कर दिया है।

अनुवादक—**नाथूराम प्रेमी।**



× द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम। वेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदाक्षयमधिगम्यते।

\+ यामिमां पुष्पितां वाचम्प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवाक्यरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

* शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुःपरम्॥
यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितम्॥